वक्रोक्ति और अभिव्यञ्जना

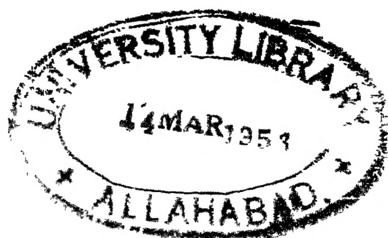
रचयिता—

रामनरेश वर्मा

साहित्यशास्त्री

बी० ए० आनर्स, एम० ए०

रिसर्च फेलो (हिन्दी-विभाग), काशी हिन्दू विश्वविद्यालय



प्रकाशक—

ज्ञानमण्डल लिमिटेड,

बनारस।

प्रकाशक—

ज्ञानमण्डल लिमिटेड,

बनारस ।

प्रथम संस्करण २०००

संवत् २००८ वि०

मूल्य ४)

मुद्रक—

विश्वनाथप्रसाद (भगतजी)

श्रीराम प्रेस, बुलानाला, बनारस ।

परिचय

मेरी अध्यक्षताके समय हिन्दी विभागसे जो उत्तम कोटिके कुछ परिगणित छात्र उत्तीर्ण होकर निकले उनमें श्री रामनरेश वर्मा एम. ए. शास्त्रीकी भी गणना है। ये इस वर्षके सर्वोत्तम फल हैं। ये जैसे कुशाग्रबुद्धि, प्रतिभाशाली, अन्तःप्रवेशशील अन्तेवासी हैं वैसे ही परिश्रमी, अध्ययन-तत्पर और विनय-विवेक-सम्पन्न व्यक्ति हैं। हिन्दी भाषा और साहित्यका जिस प्रकार इन्होंने ग्रहण, मनन और मन्थन किया है वह सर्वथा श्लाघनीय और स्तुत्य है। इनकी लेखन-शैली अत्यन्त प्रौढ़, तलस्पर्शिनी और [illegible] एवं क्षोदक्षेम-निपुण है। इन्होंने बहुत ही गम्भीर विषयपर अपनी परीक्षाके निमित्त प्रबन्ध प्रस्तुत किया है जिसमें इनको परीक्षकोंने पुष्कल अङ्क प्रदान किये हैं। इनमें जो समीक्षाकी क्षमता है वह केवल आपाततः लक्षित गुण-दोषकी विवेचना मात्रमें ही दक्ष नहीं है, अपितु विषयसे सम्बद्ध अनेकानेक दृष्टिसे जटिल और ग्रन्थिल प्रसङ्गोंकी ऐसी विचारपूर्ण गवेषणा है जो अत्यन्त परिपक्व धीमानोंकी दुर्लभ सम्पत्ति है। गूढ़ मनोगत भावोंको ये लेखन तथा भाषण दोनोंमें इस प्रकार मधुर और हृदयङ्गम पद्धतिसे व्यक्त कर सकते हैं कि पाठक या छात्र दोनों ही आह्लादित हो उठें। ये जैसे हिन्दीमें वैसे ही संस्कृतमें भी परम व्युत्पन्न हैं। इनकी रचनाका मैंने यथावसर आस्वाद पाया है। व्यक्तिके विचारसे ये अत्यन्त सज्जन और सच्चरित्र पुरुष हैं। ये सभेय और प्रगल्भ हैं। मैं ऐसे होनहार युवककी कल्याण-कामना करता हूँ और आशा करता हूँ कि ये अपनी क्षमताका समुचित उपयोग करके हिन्दी साहित्यको समुज्वल करनेमें कुछ उठा न रखेंगे।

केशवप्रसाद मिश्र
कृतकार्य अध्यक्ष, हिन्दी विभाग
(हिन्दू विश्वविद्यालय)

सम्मतियाँ

प्रिय भाई रामनरेश जी,

आपकी पुस्तक 'वक्रोक्ति और अभिव्यञ्जना' देख गया हूँ। बहुत अच्छी लगी है। आपने प्राचीन और नवीन समीक्षा-पद्धतियोंका बहुत सुन्दर अध्ययन किया है। पुस्तककी भाषा, शैली और स्थापना-पद्धति ऐसी प्रौढ़ है कि सहसा यह विश्वास करना कठिन हो जाता है कि यह आपकी पहली कृत्ति है। वक्रोक्ति और अभिव्यञ्जनापर हिन्दीमें यह अपने ढंगकी एक ही पुस्तक है। मुझे यह सोचकर बड़ा सन्तोष होता है कि यह पुस्तक हमारे विभागके पुराने छात्रकी रचना है और वह भी एम० ए० के लिए लिखे निबन्धके रूपमें लिखी गयी थी। मेरी हार्दिक बधाई स्वीकार कीजिये।

आपका—

हजारीप्रसाद द्विवेदी

(२)

मैंने श्रीरामनरेश द्वारा लिखित प्रबन्ध 'वक्रोक्ति और अभिव्यञ्जना' को देखा। इससे उनकी सत्यानुसन्धायक निगूढ़ दृष्टि, जटिल विषयोंके सुस्पष्ट विश्लेषणकी प्रतिभा तथा दार्शनिक उपपत्तियोंकी मार्मिक समीक्षाकी योग्यताका परिचय मिला। द्वितीय खण्डके 'साहित्यशास्त्रका इतिहास' शीर्षक परिच्छेदमें नवीन ऐतिहासिक उपस्थापनायें द्रष्टव्य हैं। वक्रोक्तिके स्वरूपका विवेचन तथा उससे ध्वनिका सम्बन्ध-निर्देश प्राचीन परम्परानुकूल नवीन उन्मेषका प्रयास है। 'मानस-दर्शन' नामक परिशिष्टमें भारतीय दर्शनकी दृष्टिसे क्रोचेके दर्शनकी सूक्ष्म आलोचना विचारणीय है। ऐसी सुन्दर पुस्तक लिखनेके लिए वे मेरे आशीर्वादके भाजन हैं।

महादेव पाण्डेय

सर्वतंत्रस्वतंत्र, कवितार्किक चक्रवर्ती,

अध्यक्ष,

साहित्य-विभाग,

संस्कृत महाविद्यालय, का० वि० वि०

शितिकण्ठ सद्म,
तिथि २६।५।५१

आरम्भ-वचन

साहित्य वाणीका विलास है, वाङ्मय है। वाङ्मय द्विविध होता है—काव्य और शास्त्र। पहला प्रतिभाका उद्भव है, दूसरा प्रज्ञाकी उपज।

द्वे वर्त्मनी गिरो देव्याः शास्त्रं च कविकर्म च।
प्रज्ञोपज्ञं तयोराद्यं प्रतिभोद्भवमन्तिमम्॥

साहित्यमें दोनों आते हैं। काव्य कविकर्म है—अविचारित रमणीय और शास्त्र कविकर्मका विचार है—सुविचारित सुस्थ। कविकर्मके अतिरिक्त अन्य प्रकारके क्रियाकलापोंकी विचारणा साहित्यके आभोगके बाह्य है। सम्प्रति 'शास्त्र' की मीमांसा प्रसङ्गप्राप्त नहीं, कविकर्म या काव्यका ही विवेचन अपेक्षित है।

काव्यके निर्माणमें तीन कोण होते हैं, वह त्रिकोणात्मक है। एक कोणमें काव्यका कर्ता रहता है, दूसरेमें वर्ण्य और तीसरेमें ग्रहीता। काव्य शब्दके वाच्य मुक्तक, प्रबन्ध, नाटक, कथा-कहानी सभी हैं। वर्ण्य-को अलङ्कार्य, अनुकार्य भी कहते हैं। ग्रहीता श्रोता, दर्शक, पाठक आदि सबकी अभिधा है।

काव्यके नामसे जो देखा, सुना या पढ़ा जाता है वह वाणी है, कथन है, उक्ति है। पर वाणी दैनंदिन व्यवहारमें भी देखी सुनी जाती है, किन्तु उसकी संज्ञा काव्य नहीं, अतः स्पष्ट है कि सामान्य या साधारण कथन, वचन, उक्ति या वार्ता काव्य नहीं। असाधारण या विशेष उक्ति ही काव्य-पद-वाच्य है। इसीसे कविकर्मके मीमांसकोंने काव्योक्तिकी इस विशेषताका विचार सबसे पहले किया। उन्हें काव्यकी उक्तिमें सज्जा-सभार, आन-बान, गति-बिधिकी विशेषता दिखाई पड़ी। इसीलिए काव्यकी यह विशेषता कहीं अलङ्कार, कहीं गुण, कहीं रीति मानी गयी।

पर काव्यका यह विचार कुछ लोगोंकी दृष्टिसे ऊपर-ऊपरसे काव्यको देखना था। इससे काव्यका वाह्य ही स्पष्ट हुआ, अभ्यन्तर नहीं। अलङ्कार, गुण, रीतिमें बीजरूपसे जो विशेषता पायी जाती है वह आभ्यन्तर है। काव्योक्तिकी यह विशेषता उसकी अतिशयता है, उसकी वक्रता है। इस वक्रताको किसीने अलङ्कार, किसीने लक्षणा या भक्ति भी कहा। नाट्यशास्त्रके मीमांसक आचार्योंने तो नाट्य-लक्षणोंको भी वक्रोक्तिरूप कहा है—

समस्तार्थालङ्कारवर्गस्य बीजभूताश्चमत्काराः कथाशरीरवैचित्र्यदायिनो वक्रोक्तिरूपा लक्षणशब्देन व्यवह्रियन्ते। लक्षणानि गुणालङ्कारमहिमानमनपेक्ष्य स्वसौभाग्येनैव शोभन्ते। लक्षणं महापुरुषस्य पद्मादि रेखादिवत्काव्यशरीरस्य सौन्दर्यदायी।

—अभिनवभारती, षोडशोऽध्यायानुबंध।

३६ नाट्यलक्षणोंमें सर्वप्रथम 'भूषण' आता है। इसकी व्याख्यामें कहा गया है कि।

अलङ्कारैरिति भरतोक्तैः[illegible] यत्र कथाशरीररचना समुल्लासिता तद्भूषणं नाम लक्षणम्। चित्रार्थैरिति विभावादिसामग्रीप्रत्यायकतया रसोद्योतकैरर्थविशेषैः मतान्तरे वक्रोक्तिरूपैः। . . . . . भूषणाख्यलक्षणेन काव्यं सामान्यवचसो भिद्यते, 'तात्पर्यमेव वचसि ध्वनिरेव काव्ये' 'यत्रालङ्कार वर्गोऽयं सर्वोऽप्यन्तर्भविष्यति' . . . . . इत्यादिना भोजकुन्तलकतोतादिभिरुक्तरीत्या गुणालङ्कारवर्गः सर्व एव लक्षणशब्देन परिगृहीतः। गुणालङ्कारैरेव यत्र कथारूपा वक्रोक्तिरतिशयिता तत्र भूषणम्।

अधिक प्रपञ्च न करके कहना यह है कि काव्योक्तिमें वक्रताकी विवेचना कृति या कर्ताको दृष्टिमें रखकर की गयी है। भारतीय साहित्य-शास्त्र-मीमांसामें यह श्रव्यकाव्यके पक्षसे काव्योक्तिका निरूपण है। दृश्यकाव्य या रूपकमें कर्ताके साथ अनुकर्ताका भी ध्यान रखना पड़ता है, नेताके साथ अभिनेता भी विचार-पथमें आता है। वहाँ काव्य या नाट्यका विचार उक्तिकी दृष्टिसे न होकर प्रभाव-परिणाम, चर्वणा-आस्वादकी दृष्टि हुआसे।

श्रव्यकाव्यके मीमांसक 'वर्णना' को सामने रखते थे तो दृश्यकाव्यके विचारक चर्वणाको। इसका तात्पर्य यह नहीं कि 'वर्णना' वाले रससे अपरिचित थे या 'चर्वणा' वाले वक्रताका ध्यान ही नहीं रखते थे। 'वर्णना' वालोंके लिए 'रस' गौण था। 'चर्वणा' वालोंके लिए वक्रता गौण थी। एक काव्योक्तिका विचार करते थे, दूसरे काव्यार्थका। दूसरोंकी दृष्टिमें काव्यार्थ 'रस' था। पहले संघटना, सुषमा, सौन्दर्य या चारुत्वकी चर्चा करते थे, दूसरे भोग या रमणीयताका उद्घोष। दोनोंमें स्पष्ट दृष्टिभेद है। रसवादियोंके समक्ष कर्ता, अनुकर्ता, अनुकार्य और ग्रहीता चार थे। अतः 'रस' कहाँ होता है का उत्तर देते समय किसीने उसे अनुकार्यमें माना, किसीने अनुकर्तामें और किसीने ग्रहीतामें। यहाँ इस झमेलेमें पड़नेकी आवश्यकता नहीं कि 'रस' सचमुच कहाँ होता है। संकेत यह देना है कि रसवादियोंने 'कर्ता' का विचार एक प्रकारसे छोड़ ही दिया है। हाँ, टीकाकारोंने, जैसे अभिनवगुप्तने साङ्गोपाङ्ग दृष्टान्त देते हुए 'कर्ता' का भी उल्लेख किया है—

यो मूलबीजस्थानीयात् कविगतो रसः। कविर्हि सामाजिकतुल्य एव। ततो वृक्षस्थानीयं काव्यम्। तत्र पुष्पादिस्थानीयोऽभिनयादिनटव्यापारः। तत्र फलस्थानीयः सामाजिकरसास्वादः। तेन रसमयमेव विश्वम्।

—अभिनवभारती, प्रथम खंड, पृ० २९५

पर इस वर्गके आचार्य वस्तुतः समाजका ध्यान या सामाजिकका विचार मुख्य मानते हैं। कहना चाहें तो कह सकते हैं कि पहला वर्ग सौन्दर्यका विचार करता है, कर्ताकी व्यक्ति-दृष्टिसे काव्यको देखता है। दूसरा वर्ग रमणीयताको लक्ष्य करता है, समाज या समष्टिकी दृष्टिसे काव्यको देखता है। पहला वर्ग इसीसे अभिधाको ही प्रधान कहता है—उक्तितक ही परिमित होनेसे। उक्तिमें ही वे काव्यका चमत्कार बतलाते हैं। अभिधामें ही काव्य मानते हैं। इस प्रकार प्रथम वर्गमें, सुविधाके लिए जिसे 'वक्रोक्ति' वर्ग कह सकते हैं, वे कुछ आवश्यक तत्त्व आ जाते हैं जो पश्चिमके 'अभिव्यञ्जनावाद' में आगे चलकर देखे जायँगे। यहाँ वक्रोक्तिवादके इन तत्त्वोंकी परिगणना कर लेनी चाहिए।

(१) काव्यकी उक्ति सामान्य वार्तासे विशिष्ट होती है।

(२) अभिधामें, काव्यकी उक्तिमें, चमत्कार होता है।

(३) सौन्दर्य ही 'अलङ्कार' है, सौन्दर्यसे ही काव्यकी ग्राह्यता है।

(४) काव्यकी उक्ति प्रतिभाकी उद्भावना है।

पर 'रस' की चर्चा बढ़नेपर इनके द्वारा उसका तिरस्कार नहीं किया गया। वक्रोक्तिके प्रतिपक्षमें वस्तुके यथावत् वर्णनको 'स्वभावोक्ति' कहा गया। काव्यमें स्वभावोक्ति, वक्रोक्ति और रसोक्ति तीनों होती हैं, पर 'स्वभावोक्ति' को, वस्तुके यथावत् कथनको, काव्य माननेमें इन्हें विप्रतिपत्ति थी।

यहींपर एक बातको और देखकर तब 'अभिव्यञ्जना' का पक्ष देखना चाहिए। रसवादियोंमें 'व्यञ्जना' का जो विचार हुआ उसमें, 'व्यक्तिवादी' अभिनवगुप्तने बहुत बड़ी और महत्त्वपूर्ण बात कही। उन्होंने कहा कि सामाजिक जिन भावोंका आस्वाद लेता है वे किसी दूसरेके भाव नहीं होते, उसके अपने ही होते है। जो भाव वासनारूपमें अव्यक्त पड़े रहते हैं वे ही काव्यके प्रदर्शनसे व्यक्त हो जाते हैं। किसी दूसरेके भावका आस्वाद दूसरा कैसे ले सकता है। इसलिए भोगने योग्य, भोगनेका सामर्थ्य आदिकी कल्पनामें भोजकत्व और भावकत्वकी उद्‌भावना व्यर्थ है। वासनारूपमें जहाँ कुछ न होगा, वहाँ आस्वाद भी न होगा। यह 'व्यक्ति' केवल सामाजिकमें ही नहीं, कर्ता और अनुकर्तामें भी उनके अनुरूप होती है। कर्तामें वह 'बीज' रूप होती है। यदि 'बीज' न हो तो आस्वाद्य फल नहीं हो सकता। इस पक्षका कथितव्य खतियाना चाहें तो यों कहेंगे।

(१) काव्य 'व्यञ्जना' है, व्यक्ति है। अभिव्यक्ति है।

(२) काव्यार्थ 'रस' होता है।

(३) रमणीयताके ही कारण काव्यकी ग्राह्यता है।

(४) रमणीयता या आस्वाद अपने ही अव्यक्त भावोंकी व्यक्तिमें होता है।

अब क्रोचेकी 'अभिव्यञ्जना' पर आइये। इसे समझनेके लिए और वक्रोक्तिसे इसके मिलानके लिए यस्पर्सनकी उक्तिको सबसे पहले ध्यानमें लाना चाहिए। जगत्में हम जो कुछ देखते सुनते हैं उसका अन्तःसंस्कार या प्रभाव (इंप्रेशन) हमारे अन्तःकरणपर पड़ता है। जब हम उसे प्रकट करना चाहते हैं तो वे सब प्रभाव परिमाणमें अधिक, अस्पष्ट और संकुल होनेके कारण ज्योंके त्यों बाहर नहीं आते। अतः उनका दबाव या दमन (सप्रेशन) होता है। इसके अनन्तर अभिव्यक्ति (इक्सप्रेशन,) होती है। इसके द्वारा उन प्रभावोंकी ओर संकेत (सज्जेशन) होता है। अभिव्यक्ति वही है जो उन प्रभावोंको संकेतित कर सके। यह अभिव्यक्ति सामान्य जन और कवि या कलाकार दोनोंकी उक्तिमें होती है। दोनों एक होती हैं या भिन्न, यह एक प्रश्न है। कलाकारकी अभिव्यक्ति किस प्रकार सामाजिक या पाठकको अनुरञ्जित करती है, यह दूसरा प्रश्न है।

अब क्रोचेका मत देखिये। क्रोचेने दो प्रकारके ज्ञान माने हैं।

१—कलासम्बन्धी ज्ञान है प्रातिभ ज्ञान (इंट्यूशन) कल्पनामें उद्भूत ज्ञान, व्यक्तिका संकेतग्रह अर्थात् किसी एक वस्तुका ज्ञान।

२—तर्कसम्बन्धी ज्ञान है प्रमा (कंसेप्ट) निश्चयात्मिका बुद्धिद्वारा उपलब्ध ज्ञान, पृथक् पृथक् व्यक्तियोंके पारस्परिक सम्बन्धका ज्ञान अर्थात् जातिका संकेतग्रह।

प्रातिभ ज्ञान आत्माकी क्रिया है। मनपर पड़ी छाप या संस्कार या प्रभावको, जो जगत्के नाना रूपों, व्यापारों आदिके होते हैं, उपादानके रूपमें कल्पना अपने सूक्ष्म साँचेमें भरकर अपनी कृतिको गोचर करती है। कलाके क्षेत्रमें साँचा (फार्म) ही सब कुछ है, द्रव्य (मैटर) कुछ नहीं। प्रातिभ ज्ञानका साँचेमें ढलकर व्यक्त होना कल्पना है और वही मूल अभिव्यञ्जना (एक्सप्रेशम) है। सुन्दर उक्ति ही होती है, उस उक्तिमें उपादानके रूपमें भरे व्यक्त गोचर प्रसारकी सुन्दरतासे उसका कोई सम्बन्ध नहीं।

यहाँ यह ध्यानमें रखना चाहिए कि 'अभिव्यञ्जना' (एक्सप्रेशन) का जो अर्थ क्रोचेने लगाया या लिया है वह सामान्यतया गृहीत या स्वीकृत अर्थसे भिन्न है। उसने कलासम्बन्धी अभिव्यञ्जना (एक्सप्रेशन इन दि एस्थेटिक सेन्स) को प्राकृत अभिव्यञ्जना (एक्सप्रेशन इन दि नेचुरलिस्टिक सेन्स) से भिन्न कहा है। कलासम्बन्धी अभिव्यञ्जना सबमें हो सकती है और वह वर्ण, स्वर, रेखा, शब्द आदिमें साकार होती है। अभिव्यञ्जना जब मूर्ति (इमेज) के रूपमें होती है तभी वह कलासम्बन्धी अभिव्यञ्जना होती है। कलाकी अभिव्यञ्जना साँचेके रूपमें होती है, जिसमें जागतिक वस्तुएँ उपादानका काम करती हैं। दूसरे शब्दोंमें प्राकृत अभिव्यञ्जना भौतिक होती है और कलात्मक अभिव्यञ्जना आत्मिक या मानसिक (स्पिरिचुअल)। संक्षेपमें खतियाना चाहें तो क्रोचेके मतवादको यों कहेंगे--

(१) कलासम्बन्धी ज्ञान **प्रातिभ ज्ञान** है।

(२) प्रातिभ ज्ञानहीकी **अभिव्यञ्जना** होती है। प्रातिभ ज्ञान ही अभिव्यञ्जना है।

(३) **सौन्दर्य** अभिव्यञ्जनामें होता है। साँचे या आकृति (फार्म) का होता है; वस्तु (मैटर) में सौन्दर्य नहीं होता।

(४) यदि भीतर अभिव्यञ्जना न होगी तो बाहर भी न होगी। मूलतः अभिव्यञ्जना **आन्तर** होती है।

यद्यपि प्रतिभा और प्रातिभ ज्ञानकी भारतीय धारणासे क्रोचेकी धारणा भिन्न है, पर मिलानके लिए इन्हीं शब्दोंका व्यवहार कर रहा हूँ। तुलना करनेसे स्पष्ट होगा कि क्रोचेकी कुछ बातें तो वक्रोक्तिवादियों-से मिलती हैं और कुछ रसवादियोंसे। किन्तु वस्तुतः उसका मेल भारतीय साहित्यशास्त्रकी मान्यतासे कथमपि नहीं मिलता। क्रोचेके अनुसार--

(१) प्रातिभ ज्ञान = अभिव्यञ्जना = सौन्दर्य। तीनों अखण्ड है, एक हैं।

(२) साधारण जनकी 'अभिव्यञ्जना' = कविकी 'अभिव्यञ्जना'। दोनोंमें स्वरूप भेद नहीं है।

सौन्दर्य कलामें होता है। पर सौन्दर्य कलाकारका कर्म नहीं।
वस्तुमें सौन्दर्य नहीं होता।

भारतीय दृष्टिसे प्रतिभा हेतु है, काव्य कार्य है। केवल प्रतिभा ही हेतु नहीं है, अभ्यास और निपुणता भी हेतु हैं। इसीसे मम्मटाचार्यने कहा—

शक्तिर्निपुणता लोकशास्त्रकाव्याद्यवेक्षणात्·
काव्यज्ञशिक्षयाभ्यास इति हेतुस्तदुद्भवे ।

'हेतु' शब्दका एकवचन विचारणीय रहा है। कुछ लोगोंको 'प्रतिभा' या शक्तिका विशेष आग्रह था। उन्होंने उसी (प्रतिभा) के दो भेद किये—सहजा और उत्पाद्या। उत्पाद्यामें उन्होंने निपुणता और अभ्यासको अन्तर्भुक्त किया। भारतीय दृष्टिसे काव्यमें कर्ताके कर्म या प्रयत्नकी उपेक्षा नहीं की जा सकती। क्रोचेके अनुसार प्रतिभा या प्रातिभ ज्ञान या कल्पना ही काव्य (या कला) है। भारतीय मतसे शक्तिके कारण कवि दूसरोंसे, सामान्य जनोंसे, भिन्न होते हैं, काव्योक्ति सामान्य उक्तिसे भिन्न होती है। क्रोचेके अनुसार यह पार्थक्य नहीं हो सकता। भारतीय दृष्टिसे अलङ्कारवादी भी अलङ्कार और अलङ्कार्यका भेद मानकर विचार करते हैं। वहाँ (क्रोचेके मतमें) अलङ्कार्य (वस्तु) और अलङ्कार (अभिव्यञ्जना = फार्म) का अभेद है।

भारतमें साहित्यको दर्शन कहकर भी और विभिन्न दार्शनिक सम्प्रदायोंके अनुसार उसका विवेचन करते हुए भी, अलौकिक-लोकोत्तर आदि विशेषण देकर भी काव्यकी मीमांसामें लौकिक पक्षका, व्यावहारिक दृष्टिका, सांगोपाग विवेचन है। उसका आवश्यक संग्रह-त्याग भी है। पर क्रोचेके अनुसार लौकिकताकी चर्चा ही कलामें व्यर्थ है। क्रोचेके कथनमें सबसे बड़ी असंगति यह है कि यदि कलाकी अभिव्यञ्जना किसी एक व्यक्तिकी है तो दूसरा उस अभिव्यञ्जनाका आनन्द कैसे उठा सकता है, यदि अभिनवगुप्तकी भाँति यह न माना जाय कि सामाजिक अपनी ही अव्यक्त वासनाकी व्यक्तिमें आस्वाद पाता है। वक्रोक्तिवादियोंसे अभिव्यञ्जनावादी क्रोचे-

का इतना ही मेल है कि दोनों काव्योक्तिमें सौन्दर्य मानते हैं। दूसरे शब्दों-में दोनोंमें कर्तृत्व-पक्षसे ही विचार किया गया है। पर पहला तो कर्तृत्व कर्ताका मानता है और दूसरा कर्ताका कर्तृत्व मानता ही नहीं। रसवादियोंके ग्रहीता या सामाजिकका पक्ष क्रोचेने निरर्थक माना है। कलामें वह 'सुन्दर' को ही मानता है, 'रमणीय' को नहीं। रसवादियोंके अनुसार 'सुन्दर' के आगे 'रमणीय' है। यह रमणीयता काव्यकी ऐसी विशेषता है जो उसे सबसे पृथक् करती है। कदाचित् कला या ललित कलाके भीतर ही काव्यका विचार करनेके कारण पश्चिमी विचारक (क्रोचे आदि) 'सुन्दर' या 'सौन्दर्यानुभूति' से आगे नहीं बढ़ पाते, रसानुभूतिका महत्त्व नहीं समझ पाते। भारतमें 'कला' काव्यसे नीची कोटिकी समझी जाती है—केवल सौन्दर्यानुभूतितक ही ग्राहकको पहुँचानेके कारण।

भारतमें, विशेषतया हिन्दीमें यह समझा जाता है कि क्रोचेकी दार्शनिकतासे अभिभूत पश्चिमी विचारक उसका एकस्वरसे समर्थन करते हैं। पर ऐसी स्थिति नहीं है। क्रोचेके मतका, उसकी असंगतियोंका स्पष्ट विरोध भी बराबर होता रहा है। डुकासेने अपने ग्रंथ 'फिलासफी आव् आर्ट'में औरों के मतोंके परीक्षणके साथ-साथ क्रोचेके मतकी भी परीक्षा की है और उसे अत्यन्त असंगत बताया है। उसने स्पष्ट कहा है कि क्रोचेके मतसे अभिव्यञ्जना और प्रातिभ ज्ञानके सम्बन्ध या एकरूपताकी विवेचना सिद्धान्ततः अस्पष्ट एवं भ्रामक है। मनोवैज्ञानिक दृष्टिसे भी उसने प्रातिभ ज्ञान और अभिव्यञ्जनामें जो सम्बन्ध-स्थापना की है वह नितान्त अशुद्ध है। कलाकी भौतिक कृतिके स्वरूप-निर्धारणमें भी उससे भ्रान्ति हुई है और उसने सौन्दर्य-के स्वरूपकी जो कल्पना की है वह भी तिरस्करणीय है।

हिन्दीमें प्रगतिवादका पदार्पण होनेतक क्रोचेका बड़ा डिंडिम घोष होता रहा है। सबसे पहले श्रीलक्ष्मीनारायण सिंह 'सुधांशु' ने 'काव्यमें अभिव्यंजनावाद' नामक पुस्तकमें क्रोचेका मत समझने-समझानेकी चेष्टा की। यहाँ यह उल्लेख कर देना अप्रासंगिक न होगा कि यह निबन्ध उन्होंने

काशी विश्वविद्यालयके हिन्दी-विभागके ही छात्रके रूपमें लिखा था, जिसका साहित्य-संसारमें पर्याप्त समादर हुआ। दूसरा विस्तृत विचार स्वर्गीय आचार्य रामचन्द्रजी शुक्लने, जो काशी विश्वविद्यालयके हिन्दी-विभाग-के प्राध्यापक और अध्यक्ष थे, अपने उस अभिभाषणमें किया है जो उन्होंने इन्दौरमें [illegible] साहित्य-परिषद्के सभापतिपदसे किया था और जो उनके 'चिन्तामणि' ग्रंथके द्वितीय भागमें 'काव्यमें अभिव्यञ्जना-वाद' के ही नामसे संगृहीत है। इसमें क्रोचेके मतका खंडन करते हुए उन्होंने 'अभिव्यञ्जनावाद' को 'वक्रोक्तिवाद' का विलायती उत्थान कहा है। भारतीय साहित्यशास्त्रके लिए यह बड़े गर्वकी बात होती, यदि वक्रोक्तिवाद का ही विलायती उत्थान अभिव्यञ्जनावाद होता। पर परमार्थतः यह स्थिति नहीं है। शुक्लजीके अभिभाषणके कारण दो स्थितियाँ उत्पन्न हुई। कुछ लोग तो क्रोचेके मतके समर्थनमें तरह-तरहकी युक्तियाँ देने लगे और 'वरं विरोधोऽपि समं महात्मभिः' को चरितार्थ करनेमें लगे और कुछ लोगोंने शुक्लजीकी आप्तताके आधारपर वक्रोक्तिवाद और अभिव्यञ्जना-वादको एकरूप मान लिया। ये दोनों ही स्थितियाँ हिन्दी-साहित्य और भारतीय साहित्यशास्त्र-परम्पराके लिए घातक थीं। इनका निराकरण और वस्तुस्थितिका प्रकटन अनिवार्य हो गया था।

अत्यन्त हर्ष और गर्वकी बात है कि यह कार्य भी काशी विश्वविद्या-लयके हिन्दी-विभागके छात्र हमारे परम प्रिय और विद्याव्यासंगप्रिय श्री रामनरेश वर्माने किया। हिन्दीमें प्रगतिवादियोंके कोलाहलके बीच शास्त्र और शास्त्रीय चर्चा अपराध समझी जाती है। 'शास्त्र' का नाम लेते ही प्रगतिवादी आचार्य ऐसा मुँह बनाते है मानों वे शास्त्राभ्यासियोंको बहुत पीछे जंगल या गाँव आदिकी असामयिक पुरातन जर्जर संस्कृतिके मध्य बैलगाड़ीमें छोड़कर कल-कारखानोंके हवाई जहाजतक नव-संस्कृति लिये-दिये आगे बढ़ आये हैं। सचाई यह है कि शास्त्र चर्चाके लिए न उनके पास मेधा है और न विवाद-गोष्ठियोंके लिए मेरुदंड। यहाँ शास्त्राभ्यास द्वारा नूतन सरणियों और विचार-परम्पराका उद्घाटन बराबर होता आया है और होना चाहिए।

पश्चिमी मतोंका खंडन मात्र उसका लक्ष्य न हो, भारतीय मतोंका मंडन मात्र उसका गम्य न हो। वाद होते होते ही तत्त्वबोध होता है, यही यहाँकी धारणा है। विलायती विचारोंका उल्था 'अंगरेजी' राजमें बहुत हो चुका। अब तात्त्विक दृष्टिसे संग्रह-त्याग होना चाहिए। प्रसन्नताकी बात है कि शास्त्रीय वाद-विवादके लिए जैसी प्रज्ञा, उपज्ञा, प्रतिभा और योग्यता अपेक्षित है वह श्रीवर्मामें पूर्ण है और उन्होंने 'वक्रोक्ति' तथा 'अभिव्यञ्जना'को समझाने और उनकी तुलना करनेमें बहुत ही दक्षतासे काम लिया है। अपनोंकी श्लाघा भी आत्मश्लाघा होनेसे वर्ज्य है। पर यह कहे बिना नहीं रहा जाता कि अनुसन्धानके अनेक मुद्रित और लिखित ग्रंथों, निबन्धों, प्रबन्धोंको देखते हुए भी यह निःसन्दिग्ध है कि साहित्यका ऐसा शास्त्रीय विवेचन अभीतक हिन्दीमें तो कहीं देखनेको नहीं मिला, भविष्यकी बातें दैवज्ञ जानें। जिन जिन भारतीय भाषाओंसे मैं परिचित हूँ उनमें वक्रोक्ति और अभिव्यञ्जना पर ऐसा प्रौढ़ और पुष्ट विवेचन-चिन्तन देखने सुननेमें नहीं आया। श्रीवर्मा इसके लिए साधुवादके पात्र हैं और मुझे दृढ़ विश्वास है कि इस ग्रंथका हिन्दीके शास्त्र-चिन्तन-क्षेत्रमें सहर्ष अभिनंदन होगा। श्रीवर्माको फ्रायड आदि नूतन मनोवैज्ञानिकों और मार्क्सकी आर्थिक मान्यताओंकी भी साहित्यशास्त्रकी दृष्टिसे विवेचना लगे हाथों आरम्भ कर देनी चाहिए। मेरी धारणा है कि साहित्य उनसे और चाहेगा तथा उन्हें प्रतिश्रुत होनेके कारण शीघ्र देना भी पड़ेगा।

वाणी-वितान
ब्रह्मनाल, काशी।
योगिनी ११, २००८ वि०

विश्वनाथप्रसाद मिश्र
(प्राध्यापक हिन्दी विभाग,
काशी विश्वविद्यालय)

वक्रोक्ति

और

अभिव्यञ्जना

वक्तव्य

अन्य शास्त्रोंके समान साहित्य-शास्त्र भी एक शास्त्र है जिसके कुछ अपने सिद्धान्त हैं। यह शास्त्र साहित्य-सर्जनकी प्रेरणा, प्रक्रिया एवं प्रभावके विषयमें सिद्धान्त स्थिर कर आलोचकको दृष्टिदान दिया करता है। आजके हिन्दी-आलोचककी दृष्टि भारतीय साहित्य-शास्त्रकी परम्पराके साथ-साथ विदेशी साहित्य-समीक्षाके अनाकलित अध्ययनसे आविल हो उठी है। आलोचनाकी प्रचलित सरणियोंका—मनोवैज्ञानिक एवं व्याख्यात्मक, प्रभाववादी, देश-काल और परिस्थितिकी भूमिकामें साहित्यकी मीमांसा करनेवाली, अंतश्चेतना-निरूपक समीक्षाओंका, एक दूसरेसे असम्पृक्त होना ही इस बातका निदर्शक है कि वे एकाङ्गी हैं। इस शास्त्रकी वैज्ञानिक मर्यादा स्थिर रखनेके लिए यह आवश्यक प्रतीत होता है कि साहित्यगत तथ्योंका विश्लेषण कर आधारभूत सिद्धान्त निरूपित किये जायँ और उन्हींके द्वारा साहित्यका समीक्षण हो, अन्यथा साहित्य-शास्त्र एक स्वतन्त्र शास्त्र न होकर राजनीति, अर्थनीति आदि शास्त्रोंसे परिचालित होगा जिससे उसकी वैज्ञानिकता विनष्ट हो जायगी। साथ ही साथ, यह बात भी अपेक्षित है कि भारतीय साहित्य-शास्त्र एवं पाश्चात्य साहित्य-समीक्षाकी तुलनात्मक मीमांसा की जाय जिससे शास्त्र-विधानमें बहुमूल्य एवं स्थायी तत्त्वोंका नियोजन हो सके।

सम्प्रति हिन्दी साहित्य-शास्त्रको मुख्य रूपसे प्रभावित करनेवाले तीन प्रमुख पाश्चात्य 'दार्शनिक' हैं—बेनेडेट्टो क्रोचे, सिगमण्ड फ्रायड एवं कार्ल-मार्क्स। मार्क्सके सिद्धान्तको माननेवाले 'इतिहासकी आर्थिक व्याख्या'का साहित्य-शास्त्रमें प्रयोग करते हैं और इसलिए उनके साहित्यिक सिद्धान्त बहुत कुछ अर्थनीतिके पुच्छभूत एवं राजनीतिके अनुगामी होकर रह जाते हैं। सिगमण्ड फ्रायडसे प्रभावित आलोचक काव्यको विकारग्रस्त (एब्नार्मल) मनकी प्रवृत्तियोंकी अभिव्यक्ति मानते हैं अतएव काव्यसर्जन, जो मनकी

सहज-सुन्दर प्रक्रियाका फल है, इस 'नयन-दोष'के कारण विकारपूर्ण माना जाने लगा है। अपनी दृष्टिकी स्पष्टताके लिए मैंने संक्षेपमें उक्त दार्शनिकोंपर ये विचार प्रकट किये हैं। इच्छा है, कि अवसर मिलनेपर इन-दोनों 'दार्शनिकों'के द्वारा प्रभावित साहित्य-शास्त्रकी विस्तृत समीक्षा प्रस्तुत करूँ।

छायावादके युगमें काव्यके अभिव्यञ्जना-पक्षका विशेष महत्त्व रहा। इस समयके समीक्षकोंने काव्यमें 'अभिव्यञ्जनावाद', 'प्रतीकवाद' और 'कलावाद' आदि पाश्चात्य कला-सिद्धान्तोंका प्रभाव स्वीकार किया है अतएव इस काल-की प्रवृत्तियोंको समझनेके लिए इन सिद्धान्तोंकी मीमांसा तथा भारतीय सिद्धान्तोंसे उनकी तुलना आवश्यक प्रतीत होती है।

हिन्दीके प्रौढ़तम समालोचक आचार्य पं० रामचन्द्र शुक्लने अभिव्य-ञ्जनावादको वक्रोक्तिवादका "विलायती उत्थान" माना है, किन्तु विचार करने-पर इन दोनों सिद्धान्तोंमें पुष्कल अन्तर दिखाई देता है। वक्रोक्तिवादमें उक्ति-वैचित्र्य प्रधान है, किन्तु उसके साथ रस, ध्वनि आदि काव्यके अन्य आवश्यक उपदानोंका सम्यक् समावेश भी हुआ है। अभिव्यञ्जनावादमें अभिव्यञ्जना-(एक्सप्रेशन) का प्राधान्य तो है, किन्तु क्रोचेकी अभिव्यञ्जना शब्द, स्वर, रङ्ग, रूप आदि उपकरणोंसे व्यक्त होनेवाला बाह्य प्रकाशन न होकर द्रव्य अथवा भावात्मक वस्तु (एमोटिव मैटर) का मानस-मूर्त्ताभिधान है। अभिव्यञ्जना या कलाका यह स्वरूप समस्त क्रमागत धारणा तथा प्रचलित व्यावहार-पद्धतिके प्रतिकूल है और इसीलिए इसका औचित्य भी चिन्त्य है। दूसरे, क्रोचेके लिए अभिव्यञ्जना नगण्य है, किन्तु कुन्तक उसे अवश्य विधेय मानते हैं। तीसरे, क्रोचेका मानस दर्शन न तो प्राच्य मनोविज्ञानसे मिलता है और न पाश्चात्य मनोविज्ञानसे। क्रोचे सामान्यतः भावको स्वीकार ही नहीं करते, यदि करते भी हैं तो उसे वे ज्ञानसामान्यका पूर्ववर्ती मानते हैं जो ठीक नहीं कहा जा सकता। पहले 'जानाति' ततः 'इच्छति' यही क्रम सर्वसम्मत है और कुन्तक इसीके अनुयायी हैं।

इसलिए इन दोनों शास्त्रियोंमें तात्त्विक अन्तर है। सिद्धान्तोंमें

अन्तर उपस्थित करते हुए मैंने ग्रन्थमें यह भी बतलानेकी चेष्टा की है कि छायावादकी कलात्मक प्रवृत्तियाँ इन दोनों साहित्य-सिद्धान्तोंमेंसे किसके अधिक समीप हैं।

ग्रन्थके अन्तमें कई परिशिष्ट दिये गये हैं। उनमें कुछ ऐसी धारणाओंकी स्पष्टताके लिए लिखे गये हैं जिनपर हिन्दी साहित्यमें पर्याप्त भ्रम फैला हुआ है और जिनका निवारण इस ग्रन्थके साथ अङ्गाङ्गिभावसे सम्बद्ध है। उदाहरणार्थ 'स्फोटवाद तथा शाब्दबोध', 'काव्य एवं कला' और 'रसकी अलौकिकता'। इनके अतिरिक्त 'मानस दर्शन' नामक प्रथम परिशिष्टमें क्रोचेकी दार्शनिक असङ्गतियोंके समझने-समझानेका पूर्ण उद्योग किया गया है। इस विषयका इस पद्धतिपर विवेचन हिन्दी साहित्यमें तो क्या, अंग्रेजी साहित्यमें भी नहीं हुआ है। अतः विज्ञ पाठकोंसे अनुरोध है कि वे उसे अवश्य देखनेकी कृपा करें।

× × × ×

प्रस्तुत ग्रन्थ गुरुजनोंके आशीर्वादका एक व्यक्त अंश है। अतः इसके प्रकाशनके अवसरपर उनका स्मरण एवं वन्दन मेरा सुखद कर्तव्य है।

सर्वप्रथम मैं दिवङ्गत, विद्यामन्दिरकी एकान्त विभूति, आचार्य पं० केशवप्रसाद मिश्रका ध्यान करता हूँ जिनकी तपः पूत कृपा-दृष्टिसे इस पुस्तकके कतिपय स्थल उद्भासित हो चुके हैं और जिनके दीर्घकालव्यापी, पर मृदु विमर्शसे स्वयम्प्रकाश्य भी प्रकाशित हो गया है—उन आचार्य-चरणोंमें सश्रद्ध के श्रद्धा-प्रसून।

अनन्तर, मेरा ध्यान सर्वतन्त्रस्वतन्त्र, कवितार्किकचक्रवर्ती पं० महादेव पाण्डेयकी ओर जाता है जिनसे संस्कृतके साहित्यिक तथा शास्त्रीय ग्रन्थोंके श्रवण एवं अनुशीलनने मेरी बुद्धिके उन परमाणुओंका सङ्घटन एवं शोधन किया जो इस ग्रन्थमें क्रोचेके जटिल पदार्थोंकी मीमांसा कर सके। उन आचार्यवर्यको अन्तेवासीकी साष्टाङ्ग प्रणति।

जिन पूज्यचरण पं० विश्वनाथप्रसाद मिश्रसे मैंने प्राचीन साहित्य-शास्त्रको नवीन आलोकमें देखनेकी दृष्टि पायी, जिनकी प्रेरणासे और जिनके सतत निरीक्षणमें यह पुस्तक लिखी गयी, जिनके निर्देशोंने ही कई बार मुझे पथ-

भ्रष्ट होनेसे बचा लिया तथा जिनकी भूमिकासे यह गौरवान्वित है उन गुरु-वर्यको शिष्यकी समर्चना ।

इस प्रसङ्गमें श्रद्धेय डा० जगन्नाथप्रसाद शर्मा भी वन्दनीय हैं जिनसे पाश्चात्य समीक्षाका परिचय प्राप्त करते समय क्रोचेके सम्बन्धमें जो गुरुमन्त्र प्राप्त हुआ उसके फलस्वरूप क्रोचेको समझनेमें मुझे बहुत अधिक भटकना नहीं पड़ा ।

मैं समादरणीय डा० श्री कृष्णलालजीका भी चिन्तन करता हूँ जिन्होंने अपने स्नेहसे मेरे अध्ययन-पथको सदा स्निग्ध किया है, जिनकी करुणा-कादम्बिनीका आश्रयण करके मुझे ग्रीष्ममें भी अधिक सन्तप्त नहीं होना पड़ा और जो इस ग्रन्थके प्रणयनमें प्रारम्भसे ही मेरा उत्साह-वर्धन करते रहे, उन शिक्षकवर्यको विनेयकी विनयावनति ।

जिन विद्वान् महानुभावोंने इस पुस्तकको देखकर सम्मति देनेका कष्ट उठाया है उनका मैं चिर ऋणी हूँ—विशेष रूपसे वर्तमान हिन्दी विभागाध्यक्ष डा० हजारीप्रसाद द्विवेदीका और सागर विश्वविद्यालयके हिन्दी विभागाध्यक्ष पं० नन्ददुलारे वाजपेयीका ।

परिशिष्टांश 'मानस दर्शन'को देखनेमें महामहोपाध्याय पं० गिरिधर शर्मा चतुर्वेदी, भूतपूर्व संस्कृत महाविद्यालयके प्रिंसिपल पं० कालीप्रसाद मिश्र और प्रो० बदरीनाथ शुक्ल न्यायाचार्य, एम० ए० जैसे संस्कृत वाङ्मयकी विभिन्न शाखाओंके धुरन्धर विद्वानोंने जो श्रम किया है उसके सम्मार्जनके लिए श्रद्धा-वनम्र होनेके अतिरिक्त मुझ अकिञ्चनके पास और है ही क्या ?

ग्रन्थके निर्माणमें ज्ञात तथा अज्ञातरूपसे जिन अनेक उपस्करणोंका उपयोग किया गया है उन सबके कृतिकारोंके प्रति मैं अपनी हार्दिक कृतज्ञता प्रकाशित करता हूँ—विशेष रूपसे पूज्य पं. बलदेव उपाध्यायके प्रति जिनकी कृतियोंने अनेक बार मूल ग्रन्थोंके समझनेमें सहायता पहुँचायी है ।

इसी प्रसङ्गमें भ्रातृवर पं० विश्वम्भरशरण पाठकका स्मरण एवं वन्दन करना मैं अपना सौभाग्य समझता हूँ जिन्होंने इस ग्रन्थके अनेक विषयों-पर यथावसर पर्याप्त विमर्श करते हुए उन्हें स्पष्ट करनेका अवसर दिया ।

अनुक्रमणिकाओंके प्रस्तुत करनेमें मेरे अनुजकल्प श्रीकृष्णकुमार श्रीवास्तवने पर्याप्त सहायता दी है। एतदर्थ वे मेरे आशीर्वादके पात्र हैं।

× × × ×

इस ग्रन्थमें अनेकत्र विद्वानोंका खण्डन-मण्डन किया गया है जिसे किसी प्रकारका राग-द्वेष नहीं प्रत्युत घुटनोंके बल चलनेवाले बालकका गुरुजनोंकी अँगुली पकड़कर खड़े होनेका प्रयास समझना चाहिये।

अवान्तर कार्योंमें संलग्न रहनेसे तथा प्रूफका संशोधन सर्वप्रथम करनेके कारण पुस्तकमें बहुतसी अशुद्धियाँ रह गयी हैं इसलिए मैं क्षमाप्रार्थी हूँ तथा पाठकोंसे अनुरोध करता हूँ कि कृपया, वे पहले शुद्धि-पत्रके अनुसार पुस्तकको शुद्ध करके तब पढ़ें अन्यथा अर्थका अनर्थ होनेकी पूर्ण सम्भावना है। और भी कुछ त्रुटियाँ हो सकती हैं। ज्ञात होनेपर यदि अवसर मिला तो उनका परिहार करनेका प्रयत्न करूँगा।

अन्तमें निवेदन है–

"मान्यान् प्रणम्य विहिताञ्जलिरेष भूयो
भूयो विनम्य विनयं विनिवेदयामि।
दूष्यं वचो मम परं निपुणं समीक्ष्य
भावावबोधविहितो न दुनोति दोषः॥"

अक्षय तृतीया, २००८ वैक्रम,
हिन्दू विश्वविद्यालय, काशी

रामनरेश वर्मा

विषय-सूची

उपक्रम १–४

प्रथम खण्ड

साहित्य एवं कला ३–४१

द्वितीय खण्ड

साहित्य-शास्त्रका इतिहास ४५--७३

वक्रोक्तिः काव्यजीवितम् ७४–१०८

तृतीय खण्ड

सौन्दर्यशास्त्रका इतिहास १११–१२६

परिशिष्ट

क्रम संख्या १

मानस दर्शन १८३-१९९

द्रव्य (matter) एवं मन (mind):—द्रव्यका रूपत्व तथा मनका रूपपरिग्राहकत्व–१८३–१८४; मनकी [illegible] प्रक्रिया–१८४–१८५; क्रोचेके मनसे विज्ञानवादियोंके आलयविज्ञानकी तुलना १८५–१८६; निष्कर्ष–(१) मानस दर्शनमें द्वैतसत्ता–१८६–१८८; (२) द्रव्यकी रूपात्मकतामें मनका कर्तृत्व–१८८–१९१; द्रव्य एवं रूप–१९१–१९३; मानस दर्शनके पदार्थोंकी धारणामें भ्रान्तिका कारण–१९३-१९९।

क्रम-संख्या २

स्फोटवाद तथा शाब्द-बोध १९९–२०८

वाणीका वैचित्र्य–१९९; वाणीके प्रकार–१९९-२०० व्यञ्जक एवं व्यङ्ग्य शब्द–२००-२०१ व्यञ्जक शब्दोंका हेतु–२०१-२०४; शक्ति–२०४-२०७; शाब्दबोध—२०७-२०८ ।

क्रम-संख्या ३

काव्य एव कला २०८-२१०

काव्य और कलाका भेदक है रस एवं रञ्जन–२०८; चौंसठ कलाएँ २०८-२०९; काव्यको कला माननेमें अनुपपत्तियाँ–२०९-२१० ।

क्रम-संख्या ४

रसकी अलौकिता २१०-२१३

क्रम-संख्या ५

भारतीय साहित्य-सम्प्रदायोंका पारस्परिक सम्बन्ध चित्र २१४

उपक्रम

"सत्य"[1] अपने मूल रूपमें अव्यक्त है, अगोचर है। अभिव्यक्त या गोचर होनेके लिए उसे विक्षेप एवं आवृतिरूपा मायाका परिधान ग्रहण करना पड़ता है। जहाँतक सत्ताका प्रश्न है, वह निर्विकार है, किन्तु उपाधियाँ प्रतिक्षण परिवर्तित होती रहती हैं[2]। इसीसे संसार संसरणशील है, जगत् गत्वर है।

उपाधियोंकी दृष्टिसे इस विश्वके समस्त कार्यजातके प्रति देश और कालकी समान रूपसे कारणता मानी जाती है। अतः किसी भी कार्यको देशकालकी सीमासे असम्बद्ध करके उसकी समीक्षा करना सर्वथा समीचीन नहीं हो सकता।

भारतीय अलङ्कारशास्त्रकी परम्परामें आजसे प्रायः एक सहस्र वर्ष पूर्व राजानक कुन्तकने "वक्रोक्ति"को काव्यका जीवातुभूत प्रमाणित किया। फलतः उनका कार्य हुआ "वक्रोक्तिः काव्यजीवितम्।" उन्होंने इस सिद्धान्तके प्रतिपादनमें पूर्वाचार्यों द्वारा प्रतिपादित साहित्यके समग्र उपादानोंको अत्यन्त विलक्षण रीतिसे आत्मसात् करते हुए साहित्यसमीक्षाके लिए एक नवीन मार्गका उन्मीलन किया।

यद्यपि आज वक्रोक्तिजीवित अधूरा प्राप्त हुआ है, तथापि उसके उपलब्ध अंशोंसे ही कुन्तककी मौलिकता तथा सूक्ष्म विवेचनशैलीका पर्याप्त परिचय मिलता है। ग्रन्थकारकी दृष्टि साहित्यकार तथा साहित्यिक कृतिपर ही विशेष रहनेके कारण आगेके आलङ्कारिकोंको यह मत स्वीकृत न हो सका, क्योंकि उन्हें पहलेसे आचार्य भट्टनायकका 'भुक्तिवाद' और अभिनवगुप्ताचार्यका "अभिव्यक्तिवाद" प्राप्त हो चुका था। अतः वह सामाजिक दृष्टि कुन्तकके व्यक्तिवाद-

---

१. यद्रूपेण यन्निश्चितं तन्न व्यभिचरति तत्सत्यम्– शाङ्कर भाष्य।

२. प्रतिक्षणपरिणामिनो हि सर्व एव भावाः ऋते चिच्छक्तेः—तत्त्वकौमुदी

मे आक्रान्त न हो सकी। इस प्रकार वक्रोक्तिवाद कुन्तकके साथ ही अपने चरम उत्कर्षको प्राप्त हुआ और उन्हींके साथ विलीन भी।

पाश्चात्य सौन्दर्यशास्त्रियोंकी परम्परामें इटली-निवासी बेनेडेट्टो क्रोचेने, सम्प्रति, कई मौलिक ग्रन्थ लिखे। वे मूलतः दार्शनिक थे। मानस वृत्तियोंके विश्लेषणपर ही उनके सभी ग्रन्थ प्रतिष्ठित हैं। दुरूह, पर सुसम्बद्ध शैलीमें उनकी पारस्परिक शृङ्खला जुड़ी हुई है [1]।

क्रोचेने मनकी प्रथम वृत्तिका सम्बन्ध "सुन्दर"से माना है। अतः उसके प्रतिपादक ग्रन्थका नाम सौन्दर्यशास्त्र है। क्रोचेके अनुसार सौन्दर्य और कला-का समानाधिकरण्य है। कला अभिव्यञ्जना-स्वरूप है। इसीसे यह सिद्धान्त "अभिव्यञ्जनावाद" कहा जाता है। किन्तु इस अभिव्यञ्जनाका सम्बन्ध भौतिक अभिव्यञ्जनासे गौण है। साक्षात् सम्बन्ध तो मानसिक अभिव्यञ्जनासे ही है।

स्वनामधन्य आचार्य पं० रामचन्द्र शुक्लके इस कथनने कि "और कलाओं-को छोड़ यदि हम काव्यको ही लें तो इस अभिव्यञ्जनावादको वाग्वैचित्र्यवाद ही कह सकते हैं और इसे अपने यहाँके पुराने "वक्रोक्तिवाद" का विलायती उत्थान मान सकते हैं[2]"—हिन्दी साहित्य-समीक्षाके क्षेत्रमें बड़े भ्रमजालका सर्जन किया। अवान्तरकालीन विचारकोंने शुक्लजीके व्यावर्तक विशेषण "विलायती"पर ध्यान नहीं दिया। जो भी हो, हमारी धारणा यह है कि उक्त दोनों सिद्धान्तोंमें साम्य नाममात्रको है, अन्यथा विचारपूर्वक देखनेसे दोनोंमें कोई साम्य नहीं, उनमें सांस्कृतिक भित्तियोंका, दार्शनिक विचार-पद्धतियोंका तथा साहित्यिक परम्पराओंका पारस्परिक वैषम्य है।

---

१. वस्तुतः क्रोचेके दर्शनके आधारभूत मन (माइण्ड) और द्रव्य (मैटर)के स्वरूपको तद्वत् स्वीकार करनेके अनन्तर पाठकको उनकी स्थापनाओंमें कोई विप्रतिपत्ति हो ही नहीं सकती। किन्तु हमारा विसंवाद उनकी मूलधारणाओंके विषयमें है। विशेष द्रष्टव्य-परिशिष्ट क्रमसंख्या १

२. द्रष्टव्य "हिन्दी साहित्यका इतिहास" संवत् २००२ का संस्करण पृ० सं० ४९७

विषमताका मूलाधार साहित्य एवं कलागत प्राच्य तथा पाश्चात्य दृष्टिभेद है। इसीसे प्रस्तुत ग्रन्थमें प्रथम खण्डके अन्तर्गत इस विषयका विवेचन किया गया है। द्वितीय खण्डमें साहित्यशास्त्रके विकासका ऐतिहासिक विवरण देते हुए "वक्रोक्तिवादका" निरूपण किया गया है। तृतीय खण्डमें सौन्दर्यशास्त्रका ऐतिहासिक विकासक्रम निर्दिष्ट करते हुए "अभिव्यञ्जनावाद"की व्याख्या की गयी है। इसी खण्डमें वक्रोक्तिवादसे अभिव्यञ्जनावादकी तारतमिक विषमता भी उद्घाटित की गयी है। उपसंहार इस ग्रन्थकी परिसमाप्ति है।

—:※:—

प्रथम खंड

साहित्य एवं कला

लोक-व्यवहारके प्रशस्त पथका प्रदर्शक है—वाणीका प्रपञ्च। यदि वाणीका मङ्गलमय आलोकस्तम्भ प्रकाश विकीर्ण न करता तो हमारी सारी क्रियाएँ यन्त्रवत् होतीं। इसी बातको व्यक्त करते हुए आचार्य दण्डीने कहा था कि 'शब्दात्मिका ज्योति इस विश्वको यदि आलोकित न करती तो सारा संसार अन्धकारमय रहता'[1]।

इस शब्द और अर्थका नित्य सम्बन्ध है। शब्द बिना अर्थके नहीं रह सकता– हाँ, निरर्थक पदोंको छोड़कर, उनकी अपनी कथा है। सभी भाषाओंमें ऐसे कुछ शब्द होते भी हैं परन्तु अपने[2] स्फोट रूपमें वे भी नित्य हैं। शब्द हमारे विचारोंके वाहक ही नहीं प्रवर्तक भी हैं। इसीसे वाक्य-पदीयकारने लिखा कि 'ऐसा कोई प्रत्यय नहीं है जिसका शब्दसे अनुगमन न होता हो। ज्ञात होता है कि शब्दोंमें ज्ञान अनुस्यूत है और सारा ज्ञान शब्दसे ही भासित होता है'।[3] शब्दके समान ही अर्थ भी बिना पदके नहीं रह सकता अतएव पदार्थ कहलाता है। पदार्थ शिवरूप है जिसमें पद शव है और इकार शक्ति।

---

१. इदमन्धतमः कृत्स्नं जायेत भुवनत्रयम्।
यदि शब्दाह्वयं ज्योतिरासंसारान्नदीप्यते॥ दण्डी १,३

२. 'स्फोट और शब्दबोध' के लिये देखिये परिशिष्ट क्रम संख्या २।

३. न सोऽस्ति प्रत्ययं लोके यः शब्दानुगमाद् ऋते।
अनुस्यूतमिव ज्ञानं सर्वं शब्देन भासते॥
पर डा. मङ्गलदेव 'तुलनात्मक भाषा शास्त्र' के पृ० १९७ पर "भाषा और विचारमें परस्पर नित्य तथा स्वाभाविक सम्बन्ध मानना ठीक नहीं" समझते। उन्हें समझना चाहिए कि जिस भाषाकी चर्चा ऊपर की गयी है उसका रूप, वैखरी ही नहीं मध्यमा, पश्यन्ती और परा भी है।

इस शक्तिमें उसका त्रैगुण्य भी अक्षुण्ण है। अभिधा, लक्षणा एवं व्यञ्जना ये तीन प्रकारकी शक्तियाँ हैं। इनके अनुरूप ही वाचक, लक्षक और व्यञ्जक पदोंकी तथा वाच्य, लक्ष्य एवं व्यंग्य अर्थोंकी कल्पनाएँ भी हैं। शब्द और अर्थके इस सहभावको ही साहित्य कहते हैं। पाणिनीय व्याकरणके अनुसार सहित शब्दसे भावमें 'ष्यञ्' प्रत्यय करने पर साहित्य शब्द निष्पन्न होता है— सह=योग "सहसञ्जातोऽस्येति" सहितः युक्तः "तस्यभावः" साहित्यम्।

इस व्युत्पत्तिके अनुसार प्रकृत प्रसङ्गमें साहित्यका अर्थ हुआ किसी भाषाका समस्त ग्रन्थसमुदाय अर्थात् उस भाषाका वाङ्मय। आंग्ल भाषाका "लिटरेचर" शब्द अपने व्यापक अर्थमें इसी साहित्यका बोध कराता है। विद्वानोंका कथन है कि संस्कृत वाङ्मयमें साहित्यका इस व्यापक अर्थमें प्रयोग नहीं मिलता। किन्तु सेठ कन्हैयालाल पोद्दारने विल्हण विरचित विक्रमाङ्कदेवचरितसे एक युग्मक उधृत किया है जिसमें साहित्य शब्द वाङ्मय अर्थमें प्रयुक्त मिलता है,—

साहित्यपाथोनिधिमन्थनोत्थं काव्यामृतं रक्षत हे कवीन्द्राः।
यदस्य दैत्या इव लुण्ठनाय काव्यार्थचौराः प्रगुणीभवन्ति॥
गृह्णन्तु सर्वे यदि वा यथेष्टं नास्ति क्षतिः कापि कवीश्वराणाम्।
रत्नेषु मुष्टेषु बहुष्वमर्त्यैरद्यापि रत्नाकर एव सिन्धुः॥

यहाँपर साहित्य शब्दसे वाङ्मय ही अभिप्रेत है,—यह बात थोड़ा ही ध्यान देनेसे पुष्ट हो जाती है। भामहाचार्यने कविके दायित्वकी महत्ताका उल्लेख करते हुए कहा है कि ऐसा कोई शब्द, वाच्य, न्याय अथवा कला नहीं है जो काव्यका अङ्ग न हो सके। अतः वाङ्मय की समस्त शाखाओंसे उपजीवित होनेवाला काव्य-निर्माण बड़े उत्तरदायित्वका विषय है।[१] भामह की इस उक्ति का समर्थन राजशेखरके इस कथनसे भी हो जाता है कि 'पंचमी-

---

१. न स शब्दो न तद्वाच्यं न स न्यायो न सा कला।
जायते यन्न काव्यांगमहो भारो महान् कवेः॥ भामह ५,४।
यही बात नाट्यशास्त्रकार भी कहते हैं—
न तज्ज्ञानं न तच्छिल्पं न सा विद्या न सा कला।
न स योगो न तत्कर्म नाट्येऽस्मिन् यन्न दृश्यते॥ १,११२

विद्या साहित्यविद्येति यायावरीयः। सा हि चतुर्णाम् विद्यानां निष्यन्दः'। अतः इनकी पीठिकापर जब हम उक्त युग्मकके "साहित्य-समुद्रके मन्थनसे उत्थित काव्यामृत" पर दृष्टि डालते हैं तो निश्चित हो जाता है कि साहित्य शब्दका यह प्रयोग वाङ्मय-बोधक ही है। परन्तु साथ ही साथ यह भी स्वीकार करना पड़ेगा कि सम्प्रति, उपलब्ध संस्कृत साहित्यमें वाङ्मयबोधक साहित्य शब्दका प्रयोग विरल है। ऐसे ही एक-आध स्थानोंमें मिल जाता है।

साहित्य शब्दका द्वितीय एवं मुख्य प्रयोग हमें काव्यके अर्थमें बहुशः उपलब्ध होता है। काव्यका तात्पर्य कवि-कर्मसे है। कविकर्म, जिसे 'कविसंरम्भगोचरता' कहा गया है, पर विचार करनेसे विदित होगा कि कविके पास शब्द और अर्थ ही वे साधन हैं जिससे वह सहृदयोंका अनुरञ्जन एवं अपनी कृतिका सम्पादन करता है। अतः इन दोनोंहीमें उसका प्रयत्न अनुस्यूत रहता है। इस प्रयत्नका तात्पर्य "लोग हैं लागि कवित बनावत" से न होकर "मोंहि तो मेरे कवित बनावत" से ही है। प्रयत्नका अर्थ है नवनवोन्मेषशालिनी प्रतिभाकी कृति। जिस प्रकार यह कविप्रतिभा मनोरम शब्द-शय्याका विन्यास करती है उसी प्रकार नूतन एवं रमणीय अर्थोंका सन्निवेश भी करती है। परन्तु कुछ लोगोंका विचार था कि शब्द और अर्थ दोनों ही काव्य नहीं होते। केवल शब्द काव्य होता है। अर्थ तो संसारके ही होते हैं। उनके आधारपर जिस किसी अर्थकी उद्भावना की जायगी उसे भी सांसारिक अर्थोंमें गतार्थ समझना चाहिए। दूसरे यह कभी सम्भव नहीं है कि कवि सर्वथा लोकबाह्य अर्थोंका उपनिबन्ध कर सके। अतः कविकी प्रतिभा केवल कमनीयतातिशायी शब्दोंकी ही संयोजना कर सकती है। अतएव शब्दको ही काव्य मानना चाहिए। "मैं काव्य पढ़ता हूँ" "मैंने काव्य सुना," ये सब व्यवहार काव्यकी शब्दमयताका समर्थन करते हैं। इसलिए भी शब्दको ही काव्य मानना युक्तिसङ्गत है। दूसरे लोगोंका विचार था कि शब्द अपने स्फोटात्मक रूपमें नित्य हैं। अतः उनके चयनमें कोई नवीनता हो, इसकी सम्भावना नहीं होती। अतएव रचनावैचित्र्यचमत्कारकारी अर्थ-को ही काव्य मानना चाहिए।

उपर्युक्त दोनों पक्ष एकदेशीय होनेके कारण ग्राह्य नहीं हैं उनके तर्कोंमें भी कोई दम नहीं है। जैसे शब्दको काव्य माननेवालोंने अर्थोंको संसारमें व्याप्त मानकर शब्दको ही कविप्रतिभाका विषय बनाया वैसे ही उनके विरोधमें व्याकरण सम्प्रदायवालोंने शब्दको प्रसिद्धिकी व्यापकतामें सिद्ध करके अर्थ-को ही कविप्रतिभाका लक्ष्य सिद्ध किया। पढ़ने और सुननेका व्यवहार शब्दमें ही हो सकता है, यह ठीक है। परन्तु जहाँपर काव्यके समझनेका व्यवहार होता है वहाँ तो अर्थको भी आश्रय देना पड़ेगा। इस प्रकार दोनोंको ही काव्य मानना चाहिए। इसपर पण्डितराज जगन्नाथका तर्क है कि आप शब्द और अर्थको एक साथ ही काव्य मानते हैं अथवा अलग-अलग। यदि आप अलग-अलग दोनोंको काव्य मानेंगे तो एक ही काव्य-वाक्यमें, 'मैंने इसे पढ़ा' तथा 'मैंने इसे समझा' इत्याकारक दो प्रकारका व्यवहार होना चाहिए। परन्तु संसारमें किसी पद्यको पढ़कर कोई इन दोनों प्रकारोंसे व्यवहार नहीं करता। अब यदि आप दोनोंको एक साथ हीं काव्य मानते हैं तो यह उसी प्रकार हुआ जैसे कोई दोको एक कहे। पण्डितराजके इस उभयतः पाशारज्जुसे बचनेके लिए शब्द और अर्थको सम्मिलित रूपमें ही काव्य मानना चाहिए, असम्मिलित रूपमें नहीं। रही दोको एक कहनेकी बात, तो वक्रोक्तिजीवितकार इसीमें वक्रोक्ति मानते हैं— "द्वावेकमिति वैचित्र्योक्तिः"। शब्द और अर्थको सम्मिलित रूपमें काव्य माननेसे यह आक्षेप हो सकता है कि कुन्तक किसी वक्रताप्रकारमें अथवा आनन्दवर्धन किसी ध्वनिप्रकारमें कभी अर्थको और कभी शब्दको वक्रता-धायक या व्यञ्जक क्यों कहने लगते हैं? इसका उत्तर यह है कि शब्द और अर्थ साथ-साथ अभिन्न रूपमें रहते तो हैं परन्तु विशेष स्थलोंपर कहीं शब्द विशेष चमत्कारक हो जाता है और कहींपर अर्थ। जैसे प्रत्येक तिलमें तेल रहता है वैसे ही काव्यके मूलभूत शब्दार्थोंके प्रत्येक अंशमें चमत्कार रहता है। जिस प्रकार तेल शब्दसे विभिन्न प्रकारके स्नेहोंका सामान्यतः बोध होता है और विशेषतः विशिष्ट प्रकारके स्नेहमें उसकी शक्ति रहती है उसी प्रकार काव्य शब्दसे सामान्य रूपमें शब्द और अर्थ दोनों बोधित होते हैं तथा विशेष

रूपमें कभी शब्दके लिए, कभी अर्थके लिए उपचरित होते हैं। अतः काव्य-के शब्द और अर्थ इन दोनोंमें चमत्कारकी प्रतिष्ठा रहती है और इन दोनोंमें कविकी संरम्भगोचरता माननी चाहिए। काव्यमें यह कभी भी आवश्यक नहीं है कि लोकसिद्ध ढंगसे ही शब्दोंकी शय्या सजायी जाय अथवा लौकिक पदार्थों-का ही उपनिबन्ध हो। भारतीय साहित्यपर दृष्टि डालनेसे यह स्थिति स्पष्ट दिखलायी पड़ती है कि कहीं कविने अपने कर्मके सम्पादनमें व्यावहारिक उपा-दानोंसे ही काम चलाया है और कहीं भिन्न प्रकार अपनाया है। उदाहरणार्थ लोकमें यदि कोई किसीको प्रत्यभिज्ञान कराये कि 'ये तुम्हारे पुत्र हैं' और कुछ लोग साक्षी भी दें तो उससे दर्शकों या श्रोताओंको आनन्दकी प्राप्ति नहीं हो सकती। परन्तु जब इसी प्रकारका प्रत्यभिज्ञान उत्तररामचरितके सप्तम अङ्कमें गङ्गा, पृथ्वी एवं अरुन्धतीके द्वारा श्रीरामको कराया जाता है तो उससे सामाजिक भाव-विभोर हो उठते हैं। यह तो प्रथम प्रकार हुआ जिसे ऊपर स्थूल दृष्टिसे लौकिक उपादान कहा गया है। वस्तुतः भारतीय आचार्य इसे भी लौकिक नहीं मानते। काव्य व्यापारसे सम्बन्ध होनेपर इनमें कुछ विलक्षणता आ जाती है जिसे वे अनुभावन व्यापार, विभावन व्यापार आदि कहते हैं। द्वितीयप्रकार हम ध्वनि और वक्रोक्तिके प्रकारोंमें पाते हैं। अर्थयो-जनाके विषयमें कविकर्मताका प्राधान्य हो सकता है,—इसका समर्थन दर्शन भी करते हैं। वेदान्तने अर्थके अनेक प्रकारोंमें एक प्रकार बौद्ध अर्थका भी माना है। बौद्ध अर्थका तात्पर्य है मानस अर्थ अर्थात् कल्पनामें आया हुआ अर्थ। पाणिनीय सूत्रके सहारे भी इस अर्थकी सिद्धि होती है। 'अर्थवद्धा-तुरप्रत्ययः' से उसी धातुकी प्रातिपदिक संज्ञा होती है जो अर्थ-युक्त हो। अतः

एष बन्ध्यासुतो याति खपुष्पकृतशेखरः।
कूर्मक्षीरचयेस्नातः शशशृङ्गधनुर्धरः॥

इस श्लोकमें 'बन्ध्यासुत' आदि पदोंकी जो प्रातिपदिक संज्ञाएँ हुई हैं तो उनका अर्थ अवश्य होना चाहिए। यह अर्थ बौद्ध अर्थ ही हो सकता है। क्योंकि जगत्में न तो बाँझको पुत्र होता है, न आकाशमें कुसुम लगता है, न कच्छपको दुग्ध होता है और न शशकके शृङ्ग ही होता है। यह अर्थ

मानस होता है। मनमें ही रहता है। इसी अर्थके साहचर्यसे "शब्द ज्ञानानुपाती वस्तुशून्यो विकल्पः"–यह योग सूत्र भी उत्पन्न होता है। अतः इससे सिद्ध होता है कि अर्थ, लोक बाह्य अर्थात् असांसारिक भी हो सकते हैं। अतएव "जहाँ न जाय रवि वहाँ जाय कवि" यह उक्ति चरितार्थ है। हम काव्योंमें भी देखते हैं कि कहीं "अद्भुत एक अनुपम बाग" लगता है और कहीं "मणिवाले फणियोंका मुख" हीरोंसे भरा जाता है। जो भी हो, संसारमें लक्ष्यको देखकर लक्षणोंकी निर्मिति होती है। अतः काव्य अथवा साहित्यके क्षेत्रमें विचार करनेपर शब्द और अर्थ दोनोंमें कविसंरम्भगोचरता माननी होगी। शब्द और अर्थका यह सहभाव ही साहित्य कहलाता है।

साहित्य शब्दके इतिहासपर विचार करनेसे पता चलता है कि इसका प्राचीनतम प्रयोग कात्यायन श्रौतसूत्रमें हुआ है। वहाँ इसका तात्पर्य "समन्वय" से है। परन्तु शब्द और अर्थके समन्वयसे नहीं। इसी सामान्य समन्वयके अर्थमें यह शब्द कपिल संहिता तथा कामन्दकी नीतिसारमें भी मिलता है। किन्तु शब्द और अर्थके समन्वय रूपमें इस शब्दका सर्व प्रथम प्रयोग महात्मा भर्तृहरिने षष्ठ शतकके लगभग किया—

साहित्यसङ्गीतकलाविहीनः साक्षात्पशुः पुच्छविषाणहीनः।
तृणन्न खादन्नपि जीवनामस्तद्भागधेयपरमं पशूनाम्[1] ॥

सम्भवतः इन्हींके समयमें भामहाचार्यने "काव्यालंकारमें" काव्यका लक्षण करते हुए लिखा "शब्दार्थौ सहितौ काव्यम्" अर्थात् काव्य वह है जिसमें शब्द और अर्थका समन्वय हो। इस लक्षणसे यह सन्देह बना ही रह गया कि वाङ्मयकी अन्य शाखाओंमें भी शब्द और अर्थ समन्वित रहते हैं, फिर काव्यके शब्दार्थोंमें ऐसा कौन सा विलक्षण समन्वय है जिसे साहित्य शब्दसे व्यक्त किया जा रहा है। इसका उत्तर दशम शतकके प्रथम पादमें होनेवाले राजशेखरकी साहित्य विषयक इस परिभाषासे हो जाता है "शब्दार्थयोः यथावत्सहभावेन विद्या साहित्यविद्या"। यथावत्सहभावसे शब्द और अर्थकी तुल्यकक्षता अभिप्रेत है। इसका विशेष पल्लवन एकादश शतकके पूर्वार्धमें

१. नीतिशतक का १२ वां श्लोक।

होनेवाले वक्रोक्तिजीवितकार राजानक कुन्तकने किया। उनका कहना है कि "विवक्षितार्थैकपरतन्त्र शब्द" एवं "सहृदयाह्लादकारिस्वस्पन्दसुन्दर अर्थ" का सहभाव ही साहित्य-पद-वाच्य है। इस सहभावमें परस्पर स्पर्धापूर्वक भासित होनेवाले शब्द और अर्थ वह स्थिति उत्पन्न करते हैं जो सहृदयोंके अनिर्वचनीय शोभाशालिता अर्थात् आनन्दका कारण है[१]।

वस्तुतः शब्दके प्राधान्याप्राधान्यको लेकर भारतीय वाङ्मयकी तीन श्रेणियाँ बतायी गयी हैं[२]। वेदों और शास्त्रोंमें शब्दकी मुख्यता होती है तथा अर्थकी गौणता। इस शब्द-मुख्यताके बारेमें यहाँतक कहा जाता है कि केवल स्वरकी अशुद्धिके कारण वृत्रकी मृत्यु हो गयी थी[३]। इतिहासादि ग्रन्थोंमें प्रतिपाद्य अर्थकी प्रधानता होती है एवं प्रतिपादक शब्दकी गौणता। साहित्यमें या तो दोनोंका तुल्यप्राधान्य रहता है अथवा दोनों गुणीभूत होकर भट्टनायकके मतमें भोक्तृत्व व्यापारको प्रधान बना देते हैं या आनन्दवर्धनके मतमें व्यञ्जना व्यापारको प्रधान कर देते हैं। शब्द और अर्थको एक साथ प्रधानता देनेवालोंके तीन सम्प्रदाय हैं। धर्मको आधार मानकर साहित्यकी विवेचना करनेवाले भामह, उद्भट आदि अलंकारवादी, वामन आदि रीतिवादी या दण्डी आदि गुणवादी, तथा व्यापारको आधार मानकर चलनेवाले बहिरङ्ग-दृष्टिसम्पन्न कुन्तक आदि वक्रोक्तिवादी। इसी प्रकार शब्द और अर्थके सम्मिलित गुणभावको स्वीकार करनेवालोंके दो सम्प्रदाय हैं। व्यञ्जना

---

१. साहित्यमनयोः शोभाशालितां प्रति काऽप्यसौ।
अन्यूनानतिरिक्तत्वं मनोहारिरायवस्थितिः॥ वक्रोतिजीवित १,१७

२. शब्दप्राधान्यमाश्रित्य तत्र शास्त्रं पृथग्विदुः।
अर्थतत्त्वेन युक्ते तु वदन्त्याख्यानमेतयोः॥
द्वयोर्गुणत्वे व्यापारप्राधान्ये काव्यगीर्भवेत्॥
ध्वन्यालोक लोचन के ८७वें पृष्ठ से उधृत भट्टनायक का मत।

३. मन्त्रोहीनः स्वरतो वर्णतो वा मिथ्याप्रयुक्तो न तमर्थमाह।
स वाग्वज्रो यजमानं हिनस्ति यथेन्द्रसूनुः स्वरतोऽपराधात॥

व्यापार माननेवालोंका ध्वनि सम्प्रदाय और भोक्तृत्व व्यापारको मानकर चलनेवाले अन्तरङ्गदृष्टिसम्पन्न भट्टनायकका सम्प्रदाय। वस्तुतः प्राचीनोंने इनका भेद करते हुए व्यापारकी कोटिमें कुन्तक और भट्टनायकको ही लिया है और ध्वनिकी एक अलग कोटि मानी है[1]। किन्तु वक्रोक्तिको काव्यजीवितके रूपमें प्रतिष्ठित करनेवाले कुन्तक और रसास्वादके लिए भोजक एवं भोक्तृत्व वृत्तियोंकी काव्य तथा सहृदयमें कल्पना करनेवाले भट्टनायकके विषयमें इतना ज्ञातव्य है कि यद्यपि इनका मत इन्हींतक सीमित रह गया अर्थात् सम्प्रदायके रूपमें आगे न बढ़ सका तथापि इनकी मुख्य-मुख्य उद्भावनाओंको बादके आचार्योंने किसी न किसी रूपमें स्वीकार अवश्य कर लिया है। अस्तु;

काव्यमें शब्दार्थकी तुल्यकोटिक प्रधानता माननेवालोंकी दृष्टिसे साहित्य शब्दकी व्युत्पत्ति एवं विकासका निदर्शन किया जा चुका है[2]। सम्प्रति, उन लोगोंकी दृष्टिसे विचार करना चाहिए जो काव्यमें शब्दार्थोंके न्यग्भूत होनेपर उन शब्दार्थोंसे किसी विलक्षण अर्थकी व्यक्ति स्वीकार करते हैं। एकके अनुसार यह विलक्षण तत्त्व ध्वनि है[3]। इसका उपस्थापन एवं विवरण नवम

---

१. अलङ्कार सर्वस्वकी टीका समुद्रबन्धमें उक्त विषयका विवेचन इस प्रकार दिया गया है—इह विशिष्टौ शब्दार्थौ काव्यम्। तयोश्चवैशिष्ट्यं धर्ममुखेन, व्यापारमुखेन, व्यंगमुखेन वेति त्रयः पक्षाः। आद्येऽपि अलङ्कारतो गुणतो वेति द्वैविध्यम्। द्वितीयेऽपि भणितिवैचित्र्येण भोक्तृत्वेन वेति द्वैविध्यम्। पृ० ३–४

२. कुछ लोग इस प्रकार भी व्युत्पत्ति करते हैं– संहितः लोकोत्तरवर्णतिनायुक्तः कविः तस्य कर्म साहित्यम् 'अर्थात् लोकोत्तर वर्णना सहित कविके कर्मको साहित्य कहते हैं। यहां यह बात ध्यान देने योग्य है कि जिस प्रकार सहितसे भावमें व्यञ् प्रत्यय विधायक कोई पाणिनीय सूत्र नहीं है उसी प्रकार कर्ममें भी समझना चाहिए। भावमें प्रत्यय करनेवालोंकी परम्परा है पर कर्ममें प्रत्यय करनेका आधार 'कवेः कर्म काव्यम्' ही है।

३. ध्वनिका लक्षण है—यत्रार्थः शब्दो वा तमर्थमुपसर्जनीकृतस्वार्थौं।

शतकके तृतीय चरणमें होनेवाले आचार्य आनन्दवर्धनने ध्वन्यालोकमें किया। वे ध्वनिको काव्यकी आत्मा मानते हैं[1]। अतः काव्य शब्दसे अभिहित वाङ्मयमें ध्वनिका रहना आवश्यक है। कहीं वह उत्कृष्ट अवस्थामें रहेगी, कहीं मध्यम दशामें रहेगी और कहीं निकृष्ट स्थितिमें रहेगी। इन्हींको वे क्रमशः ध्वनिकाव्य, गुणीभूतव्यंग्यकाव्य तथा चित्रकाव्य कहते हैं। चित्रकाव्यमें भी कहीं न कहीं ध्वनि रहती अवश्य है परन्तु कविकी विवक्षा ध्वनिमें न रहकर अलंकार-निबन्धनमें रहती है[2]। अतः ध्वनिकारके पक्षसे साहित्यकी व्युत्पत्ति होगी, ध्वनिके सहित रहनेवाले तत्त्वका भाव=ध्वनि (सहितं ध्वनिना युक्तं विशिष्टं तस्य भावः साहित्यम्) अर्थात् काव्य। दूसरेके अनुसार युक्त विलक्षण तत्त्व भोक्तृत्व व्यापार है। इस पक्षके उद्भवका कारण यह है कि यद्यपि ध्वनिका प्रासाद रसकी भित्तिपर ही निर्मित हुआ था, जैसा कि "लोचन" से स्पष्ट हो जाता है,[3] तथापि ध्वनिकी व्याप्तिमें रसके साथ साथ अलङ्कार और वस्तुको भी प्रथम श्रेणीमें स्थान मिल रहा था। सम्भवतः सांख्यमतानुयायी भट्टनायकको इसमें यह आपत्ति थी, जैसा कि शुक्लजीने भी सन्देह किया

व्यंक्तः काव्यविशेषः स ध्वनिरितिपूर्वसूरिभिः कथितः ॥
ध्वन्यालोक

१. काव्यस्यात्मा ध्वनिः। वही १,१

२. रसभावादिविषयविवक्षाविरहे सति, ।
अलंकारनिबन्धो यः सचित्र विषयो मतः ॥
वही, ४१ वीं तथा ४२ वीं कारिकाकी व्याख्यामें संग्रहार्थ श्लोकरूपमें उद्धृत

३. 'प्रतीयमानं पुनरन्यदेव' इतीयता ध्वनिस्वरूपं व्याख्यातम्। काव्यत्मत्वमितिहासव्याजेम दर्शयति 'काव्यस्यात्मेति'। स एवेति प्रतीयमानमात्रेऽपि तृतीया एव रसध्वनिरिति मन्तव्यं, इतिहासबलात् प्रक्रान्तवृत्तिग्रन्थार्थबलाच्च। तेन रस एव वस्तुत आत्मा, वस्त्वलङ्कारध्वनी तु सर्वथा रसं प्रति पर्यवस्येते इति वाच्यादुत्कृष्टौ तावित्यभिप्रायेण 'ध्वनिः काव्यस्यात्मेति' सामान्येनोक्तम्। पृ० ८४, ८५

है, कि रसास्वादका सम्बन्ध अन्तःकरणकी भावात्मक वृत्ति मनसे है और अलङ्कार या वस्तुके समझनेका सम्बन्ध उसकी ज्ञानात्मक वृत्ति बुद्धि से[1] । अतः दो पृथग्वृत्तियोंके ग्राह्यको ध्वनिके आभोगमें तुल्यकोटिक स्थान देना उन्हें नहीं रुचा । इसलिए उन्होंने भोक्तृत्व व्यापारकी कल्पना की जिसमें केवल रस-चवर्णा हो सकती थी, वस्तु-अलङ्कारका परिज्ञान नहीं । रस वाच्य या लक्ष्य नहीं हो सकता । अतः उसका व्यंग्य होना ही सम्भव है । परन्तु अलङ्कारादि भी व्यंग्य हो सकते हैं । अतएव रस व्यञ्जनाको ही भोक्तृत्व व्यापार कहा गया है । प्राचीनोंने इसको व्यञ्जनाका दूसरा पर्याय माना है ।[2] आचार्य भट्टनायककी दृष्टिसे साहित्यकी व्युत्पत्ति होगी, परम प्रेमास्पद, चरम इच्छाका विषय, आनन्द रूप रससे युक्त हुआ सहित, उसका भाव साहित्य=काव्य (हितेन निरतिशयप्रेमास्पदेन इतरेच्छानधीनेच्छाविषयेण सह सहितम् युक्तं, तस्य भावः साहित्यम्[3]) अर्थात् रस । जिस प्रकार जीवनकी परिपुष्टिका कारण

---

१. भट्टजीका यह सन्देह चाहे जिस कारण रहा हो पर शुक्लजीके सन्देह-का कारण आधुनिक मनोविज्ञान है । किन्तु ध्वनिके समर्थनमें यह कहा जा सकता है कि सभी ध्वनिवादी या तो शैवागमवादी थे अथवा वेदान्ती । इन दोनों दर्शनोंके मनोविज्ञानमें अन्तःकरण वृत्तिरूप ही माना गया है, भले ही वह कभी भावात्मक, कभी ज्ञानात्मक अथवा कभी क्रियात्मक हो । प्रत्येक अवस्थामें वृत्तिका साक्षात्कार साक्षी ही करता है । अतः व्यञ्जनाके आभोगमें रस अलङ्कार और वस्तुके साथ-साथ आनेमें कोई अनुपपत्ति नहीं होनी चाहिए ।

२. समुद्रबन्धकारने कुन्तक और भट्टनायक का भेद निरूपित करते हुए लिखा है "वक्रोक्ति-जीवितकारभट्टनायकयोः द्वयोरपि व्यापारप्राधान्येऽविशिष्टेऽपि पूर्वत्र विशिष्टाया अभिधायाः प्राधान्यम्, उत्तरत्र रसविषयस्य भोक्तृत्वापरपर्यायस्यव्यञ्जनस्य ।" पृ० ९

३. कुछ लोग "जातिगुणकर्मब्राह्मणादिभ्यो कर्मणि च" इस सूत्रका अनुगम सहितको समस्त पद माननेपर नहीं मानते । पर यह उनका भ्रम है । सौन्दर्य, माधुर्य आदि शब्द जैसे इसी सूत्रसे

होनेसे कभी-कभी "घी ही जीवन है" ऐसा व्यवहार होता है वैसे ही रसका व्यञ्जक होनेके कारण, सहृदयमें रसकी व्यक्तिका हेतु होनेसे काव्य या साहित्य भी रस कहा जा सकता है। अतः औपचारिक सम्बन्ध मानना पड़ेगा।[1] इस गुण वृत्तिको हटानेके लिए कर्ममें भी ष्यञ् प्रत्यय हो सकता है। "सहितः रसेन युक्तः कविः तस्य कर्म साहित्यम्" अर्थात् रसयुक्त कविका कर्म ही काव्य है। इस व्युत्पत्तिसे रसवत् काव्यकी सिद्धि मुख्य वृत्तिसे हो जाती है। परन्तु कविमें रसका सम्बन्ध प्रतिपादयिताका मानना पड़ेगा। भले ही "सरस कवि" का व्यवहार होता हो और "अरसिकेषु कवित्वनिवेदनं शिरसि मा लिख मा लिख मा लिख" से कविमें रसवत्ता सिद्ध की जाय पर सिद्धान्त सामाजिकमें ही रसकी स्थिति मानता है। अतएव इस व्युत्पत्तिके अनुसार आरम्भमें ही लक्षणाका सहारा लेना पड़ता है और पूर्व व्युत्पत्तिके अनुसार अन्तमें। अतः 'निषादस्थपत्यधिकरणन्याय' से पहली व्युत्पत्ति माननेमें लाघव है।

उपर्युक्त अनुच्छेदकी साहित्य विषयक व्युत्पत्तियाँ यद्यपि प्राचीनोंने नहीं की हैं तथापि व्याकरण-सम्मत तथा स्वविषयोद्बोधक होनेके कारण आधुनिक

निष्पन्न होते हैं वैसे ही साहित्य शब्द भी निष्पन्न हो सकता है।

१. हमारे मित्र पं० रतिनाथ झा (व्याकरणवेदान्तसाहित्याचार्य) जीने साहित्य या काव्यको साक्षात् रस रूपमें प्रयुक्त प्रमाणित किया है। उनका कहना है कि "साहित्यसङ्गीतकलाविहीनः" में महाराज भर्तृहरि साहित्य शब्दसे साक्षात् रसका बोध करा रहे हैं। तत्पश्चात् 'ब्राह्मणवशिष्ठन्याय'से सबसे अधिक भावावबोधनक्षमा सङ्गीत कलाका, द्वितीय कोटिमें शेष कलाओंकी परिगणना करा रहे हैं। झा जीकी यह व्याख्या निःसन्देह चमत्कारिणी है। ऐतिहासिक दृष्टिसे भी इसमें कोई विप्रतिपत्ति नहीं उठायी जा सकती क्योंकि दृश्य-काव्य-शास्त्र और श्रव्य-काव्य-शास्त्रकी परम्पराएँ आठवीं नवीं शतीतक भले ही अलग-अलग पल्लवित होती रही हों पर उनके उभय रूपोंमें आरम्भसे ही रसकी प्रतिष्ठा थी, यह यथास्थान दिखाया जायगा। परन्तु ध्यान देने योग्य बात यह है कि इस प्रकारका प्रयोग अन्यत्र नहीं मिलता।

पण्डित-मण्डलीको ग्राह्य हो सकती हैं। हमारा विचार है कि उक्त पाँचों सम्प्रदायोंके अनुरूप सङ्गति लग जानेके कारण ही एकादश शतकमें साहित्य शब्दका काव्य अर्थमें प्रचुर प्रयोग होने लगा। होते-होते काव्यग्रन्थोंके नामों-तक इसकी पहुँच हो गयी। पन्द्रहवीं शतीमें साहित्य चूणामणि, सोलहवीं शतीमें साहित्यसुधा, सत्रहवीं शतीमें साहित्य-साम्राज्य, साहित्य-रत्नाकर आदिसे लेकर उन्नीसवीं सदीके साहित्य-मंजूषा आदि ग्रन्थ इसके प्रमाण हैं।

राजशेखरने वाङ्मयको काव्यमें और शास्त्रमें बांट दिया है[1]। ठीक ऐसा ही विभाजन पाश्चात्योंने भी किया है। डीक्वेन्सी महोदय काव्यको भावका वाङ्मय कहते हैं और शास्त्रको ज्ञानका वाङ्मय। प्रथमका सम्बन्ध रागात्मक तथा द्वितीयका ज्ञानात्मक है। भारतीयोंने जब कविशिक्षाका प्रणयन किया तो उसे भी उन्होंने शास्त्रमें परिगणित किया किन्तु पाश्चात्योंमें वैमत्य हुआ। निर्णयात्मक आलोचकोंने उसे शास्त्र पक्षमें रखा किन्तु प्रभाववादी समीक्षकोंने उसे काव्य क्षेत्रकी ही वस्तु बनाये रखा। इसका विवेचन यथास्थान किया जायगा। यहाँ इतना ही जानना अपेक्षित है कि भारतीय विचारकोंने साहित्यको लेकर प्रवृत्त होनेवाले शिक्षा-ग्रन्थोंको भी साहित्यशास्त्रसे अभिहित किया। इतिहासमें इसका प्राचीन नाम काव्यालङ्कार मिलता है। इसका कारण यह है कि सप्तम अष्टम शतकमें दृश्य काव्यकी और श्रव्य काव्यकी अलग-अलग परम्पराएँ चल रही थीं। दृश्य काव्यमें सामाजिक दृष्टि प्रधान थी तथा श्रव्य काव्यमें कर्ताकी। इसीसे रूपकोंका रसतत्त्व श्रव्य काव्यके शास्त्रोंमें प्रमुख-रूपसे प्रविष्ट न हो सका था। उनमें अलङ्कारोंकी ही प्रधानता थी। अतः प्राधान्यव्यपदेशके अनुसार आचार्योंने काव्य शास्त्रका नाम काव्यालङ्कार दिया था। दूसरी बात यह भी थी कि उस समयतक साहित्य शब्द प्रयोगबहुल नहीं हो सका था। इसलिए भी उक्त नाम समीचीन था। परन्तु साहित्य शब्दकी महत्ता जब समझमें आ गयी और उसका प्रयोग बढ़ने लगा तो तुरन्त काव्यालङ्कारका स्थान साहित्यशास्त्रने ले लिया। इस अर्थमें सबसे प्राचीन प्रयोग हमें विक्रमाङ्कदेवचरितमें मिलता है—

---

1. वाङ्मयं द्विधा काव्यं शास्त्रंचेति। —काव्यमीमांसा

कुण्ठत्वमायाति गुणः कवीनां साहित्यविद्याश्रमवर्जितेषु ।
कुर्यादनार्द्रेषु किमङ्गनानां केशेषु कृष्णागुरुधूपवासः ॥

अर्थात् कवियोंका काव्य-कौशल भी साहित्य विद्यामें परिश्रम न किये हुए व्यक्तियोंके प्रति व्यर्थ हो जाता है । भला, कालागुरुके धूपकी सुगन्ध स्त्रियोंके आर्द्रतारहित केशकलापोंमें क्या कर सकती है । तात्पर्य यह कि जिस प्रकार केशोंको सुवासित करनेके लिए पहले उनका आर्द्र होना आवश्यक है उसी प्रकार कविकर्मका आनन्द लाभ करनेके लिए भी साहित्य विद्याका दृढ संस्कार होना अपेक्षित है ।

इस श्लोकमें साहित्य विद्या विषयक जिस श्रमकी चर्चा है वह विशेषतः साहित्यके शास्त्रपक्षसे सम्बद्ध है । महाकविके इस प्रयोगके अनन्तर शिक्षा ग्रन्थोंका नाम साहित्य शब्दसे रखा जाने लगा । द्वादश शतकमें राजानक रुय्यकने साहित्यमीमांसा, त्रयोदशमें महापात्रविश्वनाथने साहित्यदर्पण, चतुर्दश-में वेमभूपालने साहित्यचिन्तामणि आदि ग्रन्थोंका प्रणयन किया । संस्कृत साहित्यशास्त्रकी यह परम्परा सप्तदश शतकके श्रीनिवास दीक्षिततक चलती रही जिन्होंने साहित्य-सूक्ष्म-सरणि तथा साहित्य-सञ्जीवनी आदि कवि-शिक्षा-ग्रन्थोंका निर्माण किया । वस्तुतः भारतवर्षमें कवि-शिक्षा ग्रन्थोंकी बड़ी उपयो-गिता रही है । कवि और सहृदय दोनोंके लिए इन ग्रन्थोंकी उपादेयता थी ।

उपर्युक्त व्युत्पत्तियोंके अतिरिक्त साहित्यकी अन्य व्युत्पत्तियाँ भी हो सकती हैं । जैसे काव्य और काव्य-शास्त्रके सहभावको भी साहित्य कह सकते हैं । इसका उदाहरण भी "कुण्ठत्वमायाति" यह श्लोक हो सकता है । ऐसी स्थिति-में "साहित्यविद्याश्रमवर्जितेषु" का तात्पर्य उन व्यक्तियोंसे होगा जिन्होंने काव्य एवं काव्यशास्त्रमें युगपत् परिश्रम नहीं किया है अर्थात् या तो वे काव्य ग्रन्थोंका अर्थ मात्र लगानेवाले हैं और उनके सौन्दर्यके आकलनकी शक्ति उनमें नहीं है अथवा वे शुकके समान काव्यशास्त्रके नियमोंको ही जानते हैं तथा उनकी व्यावहारिक स्थितिसे अपरिचित हैं या इनमेंसे कुछ नहीं हैं, निरे मूर्ख हैं । तीनों ही स्थितियोंमें कविका कौशल व्यर्थ हो जाता है । वह कौशल न तो उन्हें रमा सकता है, न विमुग्ध कर सकता है । साहित्य शब्दकी एक दूसरी

व्युत्पत्ति दृश्य काव्य एवं श्रव्य काव्यके सहभावसे भी लगायी जा सकती है इसका दृष्टान्त "साहित्य दर्पण" है जिसमें श्रव्य काव्यका और दृश्य काव्यका साथ साथ विवेचन किया गया है। साहित्य शब्दकी एक प्रकारकी व्युत्पत्ति और भी हो सकती है। "सभो वा हिततत‌योः" इस वार्तिकसे सम्पूर्वक धा धातुसे क्त प्रत्यय करनेपर साहित्य शब्द निष्पन्न होता है जिसका अर्थ होता है सुषम। भाव प्रत्यय करनेपर साहित्य (सुषमार्थक) बन जायगा।

इस प्रकार साहित्य शब्दकी विभिन्न व्युत्पत्तियों तथा उन व्युत्पत्तियोंके विकासपर विचार करनेके पश्चात् अब साहित्यकी भिन्न-भिन्न शाखाओंका सिंहावलोकन करना चाहिये। प्राचीनोंने साहित्यका प्रथम विभाजन दृश्य एवं श्रव्यमें किया है। इस विभाजनका आधार तत्तत्प्रकारोंकी ग्राहक इन्द्रियोंसे सम्बद्ध है। यद्यपि दृश्य काव्यमें श्रव्यकाव्यताकी एवं श्रव्य काव्यमें दृश्यकाव्यताकी स्थिति देखी जाती है तथापि कविसंरम्भगोचरताके प्राधान्याप्राधान्यको लेकर ही साहित्यमें उक्त भेद किया जाता है। यही कारण है कि वाल्मीकीय रामायण (जिसका अभिनय हुआ था) और रामचरितमानस (जिसका प्रतिवर्ष रामलीलाके रूपमें अभिनय होता है) इन दोनोंको हम श्रव्य काव्य ही कहते हैं। इसी कारण रङ्गमञ्चके अभावमें उत्तररामचरित तथा 'प्रसाद' के कई नाटक अभिनीत नहीं होते हैं। फिर भी हम उन्हें दृश्य काव्य मानते हैं। वास्तवमें यह सब कविकी विवक्षा[1] का परिणाम है। प्राचीनोंने दृश्य-

---

१. इस प्रसङ्गमें शुक्लजीका वह कथन विचारणीय है जिसमें उन्होंने रसकी एक नीची अवस्थाका विवेचन करते हुए लिखा है कि उक्त अवस्थामें सामाजिकका "तादात्म्य कविके उस अव्यक्त भावके साथ होता है जिसके अनुरूप वह पात्रका स्वरूप सङ्घटित करता है।" वस्तुतः इस स्वरूप सङ्घटनसे सम्बद्ध भाव भी कवि-विवक्षाका ही फल है, इसे शुक्ल जी स्वयं मानते हैं। कवि-संरम्भगोचरताके विषयमें बताया जा चुका है कि वह काव्यसे उपस्थित होनेवाले प्रत्येक अंशमें अनुस्यूत है। अतः शुक्लजीका यह कथन है कि उक्त अवस्थाका 'हमारे यहाँके साहित्यग्रन्थोंमें विवेचन नहीं हुआ

काव्यका विधान विभिन्न रुचिवालोंकी एकत्र समाराधनाके लिए किया था[1]। इसीसे उन्होंने मनुष्योंकी प्रकृति एवं प्रवृत्ति-भेदसे दृश्य काव्यके अनेक भेदोपभेद किये जिनमें मुख्य रूपक और उपरूपक हैं। दशरूपकोंमें[2] नाटक तथा अठारह उपरूपकोंमें[3] नाटिका मुख्य है। छन्दवन्धके आधारपर श्रव्य

है' केवल विशेष विवेचनका ही व्यावर्तक हो सकता है। अन्यथा कई प्रमाण उपस्थित किये जा सकते हैं जिनमें उक्त दशासे मिलती-जुलती अवस्थाओंपर विवक्षा-विचार किया गया है। मम्मटाचार्यके 'विनिर्गतं' इत्यादि वाच्यचित्रके विषयमें प्रदीपकारने वीर रसकी स्फुटताका प्रतिपादन करके नवीन उदाहरण दिया है। परन्तु नरसिंह ठाकुरने इसी कवि-विवक्षाका सहारा लेकर मम्मटाचार्यके उदाहृत श्लोकको प्रमाणित किया तथा प्रदीपकारके खण्डनका भी खण्डन कर दिया है। पं० नन्ददुलारे वाजपेयी 'साहित्यकी वर्तमान धारा'की भूमिकामें शुक्लजीकी इस विषयमें दी गयी उपपत्तियोंको अनोखी तथा समस्त क्रमागत विवेचनाके विरुद्ध मानते हैं। परन्तु हम उसे विरुद्ध नहीं, प्रत्युत रस-सिद्धान्तमें अवान्तर प्रसंग अवश्य कह सकते हैं। इस अवान्तर प्रसङ्गका भी किसी न किसी रूपमें साहित्यशास्त्रमें विचार हुआ है, इसे हम दिखा भी चुके हैं।

१. नाट्यं भिन्नरुचेर्जनस्य बहुधाऽप्येकं समाराधनम्।

—कालिदास

२. नाटकमथ प्रकरणं भाणव्यायोगसमवकारडिमाः।
ईहामृगाङ्कवीथ्यः प्रहसनमिति रूपकाणि दश॥

साहित्यदर्पण ६।३

३. नाटिका त्रोटकं गोष्ठी सट्टकं नाट्यरासकम्।
प्रस्थानोल्लाप्यकाव्यानि प्रेङ्खणं रासकं तथा॥
संलापकं श्रीगदितं शिल्पकं च विलासिका।
दुर्मल्लिका प्रकरणी हल्लीशो भाणिकेति च॥
अष्टादश प्राहुरुपरूपकाणि मनीषिणः।

काव्यके भी दो विभेद किये गये,—गद्यकाव्य और पद्यकाव्य। छन्दहीन रचना गद्यकाव्य कही जाती थी और छन्दोबद्ध रचना पद्यकाव्य। गद्य-पद्य-मिश्रण-युक्त काव्य चम्पू[1] कहा जाता था। गद्यकाव्यमें आख्यानोंका उपनिबन्ध होता था। भामह आदि आलङ्कारिकोंने गद्यको कथा और आख्यायिका-दो भेदोंमें विभक्त किया था। पर वे भेदक गुण न बता सके। इसीसे काव्यादर्शमें शास्त्रार्थ करके दण्डीने निष्कर्ष निकाला,—

तत्कथाऽख्यायिकेत्येका जातिः संज्ञा द्वयाङ्किताः।
अत्रैवान्तर्भविष्यन्ति शेषाश्चाख्यानजातयः॥

परन्तु महाकवि बाणभट्टने हर्षचरितके मङ्गलमें आख्यायिका का[2] तथा कादम्बरीके आरम्भमें कथा का[3] निर्वचन एवं लक्षण करके ध्वनित किया कि ऐतिहासिक अनुक्रमपर चलनेवाला आख्यान आख्यायिका कहलाता है और काल्पनिक वस्तुपर प्रवृत्त होनेवाला आख्यान कथा शब्दसे अभिहित किया जाता है[4]। पद्य काव्यके दो भेद हुए,—प्रबन्ध और मुक्तक। प्रबन्ध-

---

विना विशेषं सर्वेषां लक्ष्म नाटकवन्मतम्॥

साहित्यदर्पण ६।४—६

१. गद्यपद्यमयं काव्यं चम्पूरित्यभिधीयते।

साहित्यदर्पण ६,३३६

२. नवाऽर्थो जातिरग्राम्या श्लेषोऽक्लिष्टः स्फुटो रसः।
विकटाक्षरबन्धश्च कृत्स्नमेकत्रदुर्भलम्॥
उच्छ्वासान्तेऽप्यखिन्नाऽस्ते येषां वक्त्रे सरस्वती।
कथमाख्यायिकाकाराः न ते वन्द्याः कवीश्वराः॥

हर्षचरित-प्रस्तावना श्लोक ८,१०

३. स्फुरत्कलालापविलासकोमला करोति रागं हृदि कौतुकाधिकम्।
रसेन शय्यां स्वयमभ्युपागता कथा जनस्याभिनवा वधूरिव॥

कथामुख श्लोक ८

४. बादके समीक्षकोंने इसे स्वीकार भी कर लिया—
प्रबन्धकल्पनां स्तोकसत्यां प्राज्ञाः कथां विदुः।

के भी दो उपभेद हुए,—महाकाव्य तथा खण्डकाव्य। महाकायक्की रचना सर्गबन्ध, अनुज्झितार्थ-सम्बन्धिनी तथा जीवनकी पूर्णताको लेकर प्रवृत्त होती है जिसका उद्देश्य महान् होता है, जैसे चतुर्वर्गोंमेंसे किसीकी प्राप्ति[1]। अन्तिम उद्देश्यके विषयमें आधुनिक हिन्दी साहित्यके आलोचकोंकी दृष्टि रवीन्द्रनाथ ठाकुरके काव्यात्मक कथनकी ओर विशेष जाती है। खण्डकाव्यमें जीवनके किसी अंश-विशेषका ग्रहण होता है[2]। मुक्तककी रचना अनुबन्धरहित परन्तु अपनेमें ही पूर्ण होती है[3]।

उपर्युक्त साहित्यकी समस्त शाखा-प्रशाखाओंमें प्राचीन विकसित साहित्य-शास्त्र आत्मस्थानीय रसकी सत्ता मुख्य मानता है तथा शरीरस्थानीय शब्दार्थ-की सत्ताको आपेक्षिक गौणता प्रदान करता है। इस रसके विषयमें कौन-सी मानस वृत्ति काम करती है यह विषय विचारणीय है। यौगिक मनोविज्ञानमें अहङ्कारको छोड़कर अन्तःकरणकी तीन वृत्तियाँ मानी गयी हैं,—मन, बुद्धि और चित्त। इनमेंसे मन संकल्पविकल्पात्मक है[4], बुद्धि विवेचनात्मक है[5] तथा चित्त अनुसन्धानात्मक है[6]। मनका सम्बन्ध रिरिंसासे, बुद्धिका मीमांसा से और चित्तका जिज्ञासासे है। रिरिंसा। अर्थात् रमणमूलक इच्छाका ही साक्षात् सम्बन्ध रससे है। दृश्य काव्यका विचार सदा सामाजिक पक्षसे होने-के कारण उसमें रसकी प्रतिष्ठा भरतके समयसे ही थी, परन्तु वामन, भामह

परम्पराश्रया या स्यात्ता मताख्यायिका बुधैः॥

१. महाकाव्यके अन्य उपादानोंका लक्षणरूपमें सविस्तर विवेचन भामहके काव्यालङ्कार, दण्डीके काव्यादर्श, विश्वनाथके साहित्यदर्पणमें हुआ है।

२. खण्डकाव्यं भवेत्काव्यस्यैकदेशानुसारि च।

साहित्यदर्पण ६।३२९

३. मुक्तकं श्लोक एवैकश्चमत्कारक्षमः सताम्।

अग्निपुराण

४. सङ्कल्पविकल्पात्मकं मनः।

५. निश्चयात्मिका बुद्धिः।

६. अनुसन्धानात्मकवृत्तिमच्चित्तम्।

आदि आलङ्कारिकोंके[1] ग्रन्थोंको देखनेसे कहना पड़ता है कि ऐतिहासिक क्रमसे श्रव्य काव्यमें रसकी प्रतिष्ठा आनन्दवर्धनाचार्यके समय ही हुई। फिर जब हम शोकार्तप्रवृत्त आदि कविके "तन्त्रीलयसमन्वित" "पादबद्धाक्षर" श्लोकोंपर दृष्टि डालते हैं तब स्पष्ट हो जाता है कि श्रव्य काव्यमें भी रसकी प्रतिष्ठा आरम्भसे ही थी[2]। परन्तु शास्त्रमें उसका धीरे-धीरे विकास हुआ है। इस दृष्टिसे देखनेपर भामहका "रसवद्[3]" अलङ्कार और दण्डीके अलङ्कारोंका रस-

१. काव्यं ग्राह्यमलङ्कारात् सौन्दर्यमलङ्कारः।

काव्यालङ्कारसूत्र १।१।१,२

२. पादबद्धाक्षरो रामस्तन्त्रीलयसमन्वितः।
शोकार्तस्य प्रवृत्तो मे श्लोको भवतु नान्यथा॥

इस वाक्यसे सिद्ध है कि वाल्मीकिमें करुण रसका स्थायी भाव ही रामायणकी रचनाके लिए प्रेरकरूपसे स्थित था। कालिदासने श्रीरामके द्वारा परित्यक्त सीताके रुदनका अनुसरण करनेवाले वाल्मीकिका वर्णन करते हुए उक्त सत्यको और भी स्पष्ट किया है—

तामभ्यगच्छद्रुदितानुसारी मुनिः कुशेध्माहरणाय यातः।
निषादविद्धाण्डजदर्शनोत्थः श्लोकत्वमापद्यत यस्य शोकः॥

रघुवंश १४।७०

इसी बातको आनन्दवर्धनाचार्यने सर्वथा व्यक्त कर दिया है—

काव्यस्यात्मा स एवार्थस्तथा चादिकवेः पुरा।
क्रौञ्चद्वन्द्ववियोगोत्थः शोकः श्लोकत्वमागतः॥

ध्वन्यालोक १।५

वस्तुतः काव्यकी उत्पत्तिके विषयमें यह, एक अत्यन्त व्यापक तथा देश-कालसे परे, सिद्धान्त है कि आवेगकी अधिकतामें सरस्वती मुख-मार्गसे निस्सृत हो उठती हैं। आजका हिन्दी कवि भी कहता है "वियोगी होगा पहला कवि, विरहसे निकला होगा गान।" पाश्चात्य देशोंमें शेलीने भी कहा है,—Our sweetest songs are those, That tell us of saddest thought.

३. रसवद्दर्शितस्पष्ट शृङ्गारादिरसं यथा,

पर्यवसायी[१] होना समझमें आ जाता है। श्रव्य काव्यके पद्य काव्य और गद्य काव्य ये भेद हम बतला आये हैं। यदि पूर्वके विवेचनको हम पद्यकाव्यपरक ही मानें तो भी यह स्वीकार करना पड़ेगा कि गद्य काव्यमें भले ही सुबन्धु[२] "प्रत्यक्षरश्लेष"के लिए बद्धपरिकर रहे हों पर बाणभट्ट को[३] "स्फुटरस" तथा "रसशय्या" आख्यायिका एवं कथामें सर्वथा इष्ट है। इस प्रकार हम देखते हैं कि प्राचीनोंके विचारसे रस ही वह तत्त्व है जो साहित्यकी सत्ताको वाङ्मयकी अन्य शाखाओंसे अतिरिक्त सिद्ध करता है। रस ही साहित्यका परम अपूर्व तत्त्व है।

रसकी सत्ता प्रातीतिक[४] मानी जाती है [illegible] रसरूपमें परिणत होनेवाले स्थायी भाव सामाजिकनिष्ठ होते हैं और दध्यादिकी अपेक्षा

देवीसमागमाद् धर्ममल्करण्यतिरोहिता।

काव्यालङ्कार २,६

१. कामं सर्वोऽप्यलङ्कारः रसमर्थे निषिञ्चति।

काव्यादर्श १,१६

२. 'वासवदत्ता'के आरम्भमें सुबन्धुने प्रतिज्ञा की है—

सरस्वतीदत्तवरप्रसादश्चक्रे सुबन्धुः सुजनैकबन्धुः।
प्रत्यक्षरश्लेषमयप्रबन्धविन्यासवैदग्ध्यनिधिर्निबन्धम्॥ श्लोक १२

३. हर्षचरित एवं कादम्बरीके पूर्वोदाहृत श्लोकोंको देखना चाहिये।

४. वेदान्तियोंने चार प्रकारकी सत्ताएँ मानी हैं—पारमार्थिक, व्यावहारिक, प्रातीतिक या प्रातिभासिक तथा अलीक या बौद्ध अर्थ। पारमार्थिक सत्ता त्रिकालाबाधित सत्ता है। इसीसे 'ब्रह्म'का अभिधान किया जाता है। व्यावहारिक सत्ता नामरूपात्मक जगत्के सकल पदार्थोंमें अनुप्रविष्ट है, ब्रह्मात्मैक्य ज्ञानके पूर्व सत्यरूपसे व्यवहृत होनेके कारण जगत्की सत्ता व्यावहारिक है। प्रातीतिक सत्ता प्रतीतिकालावच्छिन्न होती है। स्वप्न एवं भ्रम इसके उदाहरण हैं।

पृथक् है। अतः प्राचीनोंकी दृष्टिसे साहित्यकी रसात्मक अर्थात् प्रातीतिक सत्ता निर्विवाद है।

अब आधुनिकोंकी दृष्टिसे हिन्दी साहित्यका सत्ताविषयक विचार करना चाहिये। इसके लिए भी पूर्वोक्त साहित्यकी शाखा-प्रशाखाओंके विकसित रूपों और तदन्तरालवर्ती वृत्तियोंको समझना आवश्यक है। हिन्दी साहित्यके विविध स्वरूपों पर विचार करते समय पाश्चात्य साहित्यका प्रभूत प्रभाव लक्षित होता है। इस प्रभावके स्वरूपको सुस्पष्ट रूपसे समझनेके लिए आधुनिक मनोविज्ञानका वृत्तिविचार अधिक सरल एवं सुलभ है। उसमें किसी व्यक्ति या वस्तुके प्रति एक समयमें जो मनकी स्थिति रहती है उसे 'भाव'[1]=इमोशन कहते हैं। आलम्बन विशेषके प्रति होनेवाली आश्रयकी यह भावात्मक वृत्ति जब इतनी पुष्ट हो जाती है कि प्रत्येक साक्षात्कारके समय उस आलम्बनके प्रति आश्रयमें उसी वृत्तिकी उत्पत्ति होने लगती है तो उसे चिरभाव=सेण्टीमेण्ट या स्थायी भाव कहते हैं। भारतीय रसशास्त्रियोंने सामाजिकमें परिपुष्ट होनेपर इसी वृत्तिको रस कहा है। किन्तु जब यह स्थायी भाव इतना प्रबल हो जाता है कि प्रत्येक व्यक्तिके साक्षात्कारसे प्रत्येक समय उत्पन्न होने लगता है तब उसे मनोविज्ञानमें स्वभाव, चारित्र्य=कैरेक्टर या व्यक्ति-वैचित्र्य कहते हैं। पाश्चात्योंने इस स्वभावकी ओर आरम्भसे ही ध्यान दिया है। बेनेडेट्टो क्रोचे इसे ही काव्यमें सर्वस्व स्वीकार करते हैं। भारतीय मनोविज्ञानके अनुसार स्वभावका सम्बन्ध मनसे न होकर चित्तसे होगा। आधुनिक हिन्दी साहित्यमें व्यक्ति-वैचित्र्यवादके प्रवेशसे ही विशेषतः कथा-साहित्यसे रसका सम्बन्ध प्रायः समाप्त हो गया। नाना प्रकारके उपन्यासों तथा विभिन्न प्रकारकी कहानियोंमें घटना-वैचित्र्य, कथा-वैचित्र्य, स्वभाव-वैचित्र्य ही रह गया। भाव या रस गौण हो गया। हम यह स्वीकार करते हैं कि बाणभट्टने कथामें कौतुकको स्थान दिया था, किन्तु वह निरा कौतुक नहीं था, कौतुकाधिक राग था अर्थात्

---

१. भारतीय साहित्यशास्त्री भी यही कहते हैं,—
निर्विकारात्मके चित्ते भावः प्रथम विक्रिया।

साहित्यदर्पण ३,९३

कविकी प्रतिभाका प्रयत्न कुतूहलके माध्यमसे 'रिरंसा' उत्पन्न करना था, न कि "जिज्ञासा" जैसा आजकलके साहित्यकार करते हैं। 'हृदयेश' और 'प्रसाद'के कथासाहित्यमें अवश्य कभी-कभी थोड़ी-बहुत प्राचीन प्रवृत्ति दिखाई पड़ती है। जहाँ तक कविताका सम्बन्ध है यहाँ वाले अब भी स्वभाव-की अपेक्षा स्थायी भावको महत्त्व देते हैं, परन्तु इतना इस प्रसङ्गमें स्मरण रखना होगा कि अब रसका सम्बन्ध आत्मवादसे नहीं, मनोविज्ञानवादसे लगाया जाता है। पता नहीं आजकी तर्कप्रवण बुद्धि भी आत्मस्वरूपका विस्मरण कैसे कर रही है। जो भी हो, कथा-साहित्यमें न सही, कवितामें अब भी रमणीयता बनी हुई है।

अब आधुनिक नाटकोंपर विचार करना चाहिये। भारतीय इतिहास तो रसका सम्बन्ध नाटकोंसे ही बताता है। पश्चाद्वर्ती विद्वानोंने भी कवित्वका परिपाक नाटकोंमें ही माना था,—"नाटकान्तं कवित्वम्।' पर पाश्चात्य नाटकके इतिहास-में अरस्तूके समयसे ही कर्मसौन्दर्यको प्रधानता दी गयी जिसमें कर्त्ता एवं कर्त्ताकी मनःस्थितिका भी विचार किया गया था। इस प्रकार चरित्रका विकास बाह्य द्वन्द्वोंके माध्यमसे स्फुट होता था। किन्तु स्वच्छन्दतावादियोंके समयसे व्यक्ति-वैचित्र्यके प्रदर्शनका माध्यम अन्तर्द्वन्द्व हो गया। आधुनिक युगमें यह अन्तर्द्वन्द्व ही नाटकका जीवन माना जाता है। भारतीय व्यक्तिवादी दर्शनके आधारपर साहित्यमें समाजवादकी प्रतिष्ठा हुई थी और आज समाज-वादी दर्शनके होते हुए साहित्यमें व्यक्तिवादकी बन पड़ी है? हम मानते हैं कि उत्तररामचरितमें भवभूतिने श्रीरामके कर्तव्य एवं काम-विषयक अन्तर्द्वन्द्व-का विशद चित्रण उपस्थित किया है, परन्तु कविकी विवक्षा उसमें वैचित्र्य-सम्पादनकी न होकर सहृदयको मग्न करनेकी ही है। हिन्दीके प्रसिद्ध दिवङ्गत नाटककार प्रसादने प्राच्य एवं पाश्चात्य प्रवृत्तियोंको मिलानेकी चेष्टा की जिसमें बहुत दूरतक वे सफल भी हुए। यही कारण है कि 'स्कन्दगुप्त'में चित्तवृत्ति कहीं जिज्ञासात्मक हो उठती है और कहीं रम जाती है। इस प्रकार नाटक कथा और काव्यका सन्धिस्थल है जिसमें उभय प्रवृत्तियाँ तुल्यप्रधान होती हैं। पर प्रसादके अतिरिक्त अन्य, हिन्दीके, नाटककारोंकी प्रवृत्ति काव्यात्मक

अंशको सर्वथा हटा देनेके पक्षमें है। अशोककी छायामें प्रसादत्वका विधान न कर सकनेके कारण पण्डित लक्ष्मीनारायण मिश्र "सिन्दूरकी होली" जैसी रचनाओंमें पद्यका स्पर्शतक नहीं होने देते। इस प्रकारकी प्रवृत्ति जिन-जिन कृतियोंके मूलमें रहेगी वे उभयप्रवृत्तिप्रधान रचनाओंमें न आकर शुद्ध जिज्ञासात्मक कोटिमें रखी जायँगी।

उक्त प्रकारके साहित्यकी सत्तापर विचार करते हुए विद्वानोंने स्थिर किया है कि इसे "प्रातिबिम्बिक[1]" सत्ता कहना चाहिये। इसका कारण यह है कि कवि संसारमें जो कुछ देखता-सुनता है उसका प्रतिबिम्ब उसके मनमें अङ्कित हो जाता है। रचना करते समय उन प्रतिबिम्बोंसे चुने हुए प्रभावपूर्ण अंश कवि अथवा आश्रयके भावोंसे संयुक्त होकर मनमें ही बिम्बरूप धारण करते हैं। तदनन्तर रचनामें उनका प्रतिबिम्ब उपस्थित होता है और उसी प्रतिबिम्बको सामाजिक ग्रहण करते हैं। यही साहित्यकी प्रातिबिम्बिक सत्ता कही जाती है। ध्यान देनेसे विदित होगा कि इस सत्तासे पूर्वोक्त प्रातीतिक सत्ताका कोई विरोध नहीं है। इस प्रतीतिकालमें कोई न कोई भावकका आलम्बन रहता ही है। जहाँतक इस आलम्बनका प्रश्न है, प्राचीन साहित्यकी भी प्रातिबिम्बिक सत्ता माननी चाहिये। परन्तु जिस स्थानपर रस-प्रतीति उद्देश्य है वहाँ प्रातीतिक सत्ता ही स्वीकार करनी पड़ेगी। संस्कृत साहित्यका आधारभूत तत्त्व रस था। इसीसे प्राचीनोंने साहित्यकी प्रातीतिक सत्ता स्वीकार की थी। किन्तु आज अर्वाचीन प्रवृत्तियोंके आगमनसे हिन्दी साहित्यकी विभिन्न शाखाओंमें अनुगत तत्त्व प्रतिबिम्ब ही है। अतः आधुनिक दृष्टिसे साहित्यकी प्रातिबिम्बिक सत्ता माननेमें कोई आपत्ति नहीं की जा सकती।

प्रातिबिम्बिक सत्ताका साक्षात् सम्बन्ध पाश्चात्य कला-भावनासे है जिसपर हम लोग विचार करेंगे। इससे पूर्व भारतीय दृष्टिसे कलाके इतिहास, व्युत्पत्ति और स्थितिका अवलोकन करना आवश्यक है जिससे प्राच्य एवं पाश्चात्य कलाकी धारणाएँ स्पष्ट हो सकें। भारतीय वाङ्मयमें कला शब्दका प्रयोग ऋग्वेद

१. सौन्दर्यशास्त्रके इतिहासमें यवन दार्शनिकोंके सत्ता-विषयक अंशसे तुलित कीजिये।

(८,४७,१७) तथा अथर्ववेद (६,६६,३,१६,५७,१) और शतपथ ब्राह्मण एवं तैत्तिरीय संहितामें उपलब्ध होता है। मन्त्रों और ब्राह्मणमें कला-का अर्थ १।१६ वें भागसे और संहितामें शफ१।८ वें भागसे है। महाभारत-में इस शब्दका प्रयोग सूर्य (३,१५०) और क्षणों (६,२५,७) के लिए हुआ है। भागवत, कथासरित्सागर और हितोपदेशमें कला शब्द कर्दमकी पुत्री तथा मरीचिकी पत्नीके लिए आया है। इन अर्थोंमें हमारा कोई प्रयोजन नहीं है। परन्तु नाट्यशास्त्रमें[1] भामहके काव्यालङ्कारमें[2] तथा अन्तरालवर्ती विभिन्न काव्योंमें पाया जानेवाला कला शब्द यह ज्ञापन करता है कि साहित्य उसके द्वारा भी उपजीवित होता है। यही कारण है कि भामहने चार प्रकारकी काव्य-वस्तुओंमें कलाश्रित वस्तुका भी उपादान किया है[3]। दण्डी भी "अयथारूढ़" प्रवर्तनोंमें कला-विरोधका उल्लेख करते हैं[4]। दशरूपककारने चार प्रकारके नायकोंमें धीरललितको कलासक्त नायक बताया है[5]। दण्डीने इन कलाओंको

---

१. न तज्ज्ञानं न तच्छिल्पं न सा विद्या न सा कला।
न स संयोगो न तत्कर्म नाट्येऽस्मिन् यन्न दृश्यते ॥ १,११३

२. धर्मार्थकाममोक्षेषु वैचक्षण्यं कलासु च।
करोति कीर्तिं प्रीतिं च साधुकाव्यनिषेवणम् ॥ १,२

३. वृत्तदेवादिचरितशंसि चोत्पाद्यवस्तु च।
कलाशास्त्राश्रयं चेति चतुर्धा भिद्यते पुनः ॥ १,१७

४. देशोऽद्रिवनराष्ट्रादिः रात्रिंदिवर्तवः।
नृत्यगीतप्रभृतयः कलाः कामार्थसंश्रयाः ॥
चराचराणां भावानां प्रवृत्तिर्लोकसंज्ञिता।
हेतुविद्यात्मको न्यायः सस्मृतिः श्रुतिरागमः ॥
तेषु तेष्वयथारूढं यदि किञ्चित्प्रवर्तते।
कवेः प्रमादाद्गान्दिरोधीत्युच्यते ॥ ३,१६२–१६४

५. भेदैश्चतुर्धाललितः शान्तोदान्तोद्धतैरयम्।
निश्चिन्तो धीरललितः कलासक्तः सुखी मृदुः ॥ २,३

कामाश्रयी कलाएँ[1] कहा है । कामशास्त्रमें इनकी संख्या चौंसठ बतायी गयी है[2] । अन्य ग्रन्थोंसे भी यह संख्या अनुमत है । स्वयं दण्डीने भी यही लिखा है[3] । जो भी हो, इन कलाओंमें निपुणता या वैदग्ध्यकी प्रधानता रहती है । इसीसे वास्तु, मूर्ति, चित्र इन तीन शिल्पों और छन्दःशास्त्र, सङ्गीत, अभिनय आदिके मध्यमें समस्यापूर्ति भी कला मानी गयी है जो कौतुक एवं वादविवादके कौशलके लिए होती थी[4] । काव्यमीमांसाकारने इन कलाओंको उपविद्या कहा है । प्रसादजीने इसका अर्थ यह लिया है कि कलाकी रेखाएँ निश्चित सिद्धान्ततक पहुँचा देती हैं। तात्पर्य यह कि कलाओंका उद्देश्य स्पष्ट एवं किसी निश्चित कोटितक पहुँचानेवाला होता है । अतः कला भी एक प्रकारका विज्ञान या शास्त्रीय विषय है । प्राचीन साहित्यशास्त्रियोंने इसे साहित्यसे भिन्न माना था । वे यह स्वीकार करते थे कि नृत्यादि कतिपय कलाएँ भावाश्रयी होती हैं, किन्तु साहित्य रसाश्रयी होता है । यदि कला पदार्थाभिनयात्मक होती है तो साहित्य वाक्यार्थाभिनयात्मक होता है । तात्पर्य यह कि नृत्यादि सङ्गीतकी अभिव्यक्तियाँ भी उतनी प्रभावपूर्ण एवं परिष्कृत नहीं होतीं जो हमें रसतक पहुँचा सकें । रस-दशातक पहुँचा सकनेका श्रेय साहित्यको ही प्राप्त है । साहित्यकी अपनी भूमि है । निरावरण चैतन्यानन्द संवलित अन्तःकरणकी वृत्तियोंका मिश्रीभाव= रस । पर कलाका कर्तृत्व कौशलसे सम्पृक्त है । इसीसे अमरसिंहने कहा,—'कला शिल्पे गीतवाद्यनैपुण्ये ।' प्रसादजीने भोजराजकृत तत्त्वप्रकाशसे जो उद्धरण दिया है वह भी कलाकी कारीगरीका पोषक है,— [illegible] सा" । परन्तु प्रसादजीने इस व्युत्पत्तिके पश्चात् शिवसूत्रविमर्शिनीसे कलाके सम्बन्धमें जो धारणा उपस्थित की है वह विलक्षण है,—"नव-नवस्वरूपप्रथोल्लेख-शालिनी संवित् वस्तुओंमें प्रमाताको, स्वको, आत्माको परिमितिके रूपमें प्रकट करती है, इसी क्रमका नाम कला है ।" यह परिभाषा आधुनिक ललित कलाकी कल्पनाके अति समीप है । किन्तु इसके विकासका सूत्र नहीं मिलता । कमसे

१. नृत्यगीत प्रभृतयः कलाः कामार्थसंश्रयाः ३१,६२

२. देखिए "काव्य एवं कला" परिशिष्ट क्रम संख्या ३ ।

३. इत्थं कला चतुःषष्ठि विरोधः साधु नीयताम् ३,१७१

४. श्लोकस्य च समस्यारपूरणंक्रीडार्थं वादर्थं । कामसूत्रकी वृत्ति

कम साहित्य शास्त्रियोंने कलाको इस रूपमें देखा है, इसका प्रमाण नहीं है। इसका कारण यह भी हो सकता है कि आज हमें भारतीय विचारकों की सारी परम्पराएँ अक्षुण्ण नहीं प्राप्त हैं। यदि एक-आध दिखलाई भी पड़ती हैं तो उनके विकाससूत्र नहीं मिलते। कलाकी उक्त धारणा इसीका एक दृष्टान्त है। मेदिनीकोषके रचयिताने कलाकी प्रायः सभी धारणाओंको इन शब्दोंमें संगृहीत किया है,—

अपिनाकला स्यान्मूलैरवृद्धौ शिल्पादावंशमात्रके।
षोडशांशे च चन्द्रस्य कलना कालमानयोः ॥

पाश्चात्य देशोंमें जिस प्रकार ज्ञान-विज्ञानकी सभी शाखा-प्रशाखाओंका विकास ग्रीक सभ्यतासे आरम्भ होता है वैसे ही कलाकी कलना भी वहाँ से ही प्रारम्भ हुई। आर्ट शब्दके मूल ग्रीक एवं लैटिन शब्दोंका यदि व्युत्पत्यर्थ देखा जाय तो पता चलता है कि उस समय उनमें भी कारीगरीका भावनिहित था। आर्टके जर्मन और फ्रेञ्च पर्याय भी कौशलके ही द्योतक हैं। परन्तु कला-विषयक यह धारणा १८ वीं शतीके समीप परिवर्तित होने लगी। तबसे लेकर आजतककी कलात्मक प्रवृत्तियोंका विकास संक्षेपमें सौन्दर्यशास्त्रके इतिहासमें बताया जायगा। सम्प्रति कलाओंके वर्गीकरण और कला-प्रकारोंपर विचार करना चाहिये।

किसी भी वस्तुमें मनुष्यकी प्रवृत्तिका कारण उक्त वस्तुकी उपयोगिता है। बुद्धिप्रधान प्राणी व्यर्थ परिश्रम करना नहीं चाहता। ठीक भी है–"प्रयोजनम-नुद्दिश्य न मन्दोऽपि प्रवर्तते।" अतः पाश्चात्योंने कलाओंका प्रथम वर्गीकरण उपयोगिताको आधार मानकर किया। बढ़ई, सुनार, लोहार, शिल्पी आदि-की कलाएँ उपयोगी कलाएँ हैं। इनके अतिरिक्त उन्होंने ललित कलाओंके[1]

---

१. "ललितकला"का प्रयोग प्राचीन साहित्यमें नहीं मिलता। कुछ लोगोंने इसे रघुवंशसे सिद्ध करनेका प्रयास किया, किन्तु "ललिते कलाविधौ"में समासके नियमानुसार ललितका अन्वय विधिमें होता है, न कि कलामें। अतः दूसरे विद्वान् इस दृष्टान्तको असङ्गत मानते हैं। ऐतिहासिक दृष्टिसे देखनेपर "फाइन आर्टस"के अर्थमें

पांच प्रकारोंकी कल्पना की है। ये वास्तु, मूर्ति, चित्र, सङ्गीत और काव्य-कलाएँ कही जाती हैं। काव्यको कलाके क्षेत्रमें अवतीर्ण करनेका श्रेय अरस्तू महोदयको हैं। किन्तु वे काव्यकलाको सङ्गीतकलामें अन्तर्भुक्त मानते थे, सङ्गीतका ही एक प्रकार-विशेष स्वीकार करते थे। कारण यह था कि सङ्गीत-की मोहक और प्राभाविक शक्ति मनुष्योंतक ही नहीं, पशु-पक्षि जगत्तक व्याप्त है। वर्सफोल्डने पाँच प्रकारकी ललित कलाओंके अतिरिक्त अपने ग्रन्थ की[1] टिप्पणीमें नाट्यकला, व्याख्यानकला और नृत्यकलाका भी निर्देश किया है। तीन ही नहीं और भी अनेक प्रकारकी कलाएँ ललित कलाओंमें गृहीत हो सकती हैं जिन्हें भारतीयोंने चौंसठ कलाओंमें गिनाया है। जहाँतक उक्त आठ प्रकारकी ललित कलाओंका सम्बन्ध है, सभी उनमें आ जाती हैं। 'काव्यकला'का भी निर्वाह 'समस्यापूर्ति,' 'छन्दोविचिति' आदिमें हो ही जाता है।

उपयोगी और ललित कलाओंके वर्गीकरणमें प्राधान्यव्यपदेश ही समझना चाहिये, क्योंकि उपयोगितामें सौन्दर्यकी और सौन्दर्यमें उपयोगिताकी भावना अन्तर्निहित रहती है। सौन्दर्यकी भावनासे भावित हृदय उपयोगी या आवश्यक वस्तुके अन्तरप्रदेशमें भी सुन्दरताकी प्राप्ति करता है और सौन्दर्यकी उपयो-गिता मानस तृप्तिके ही लिए है। इसीलिए महादेवी वर्माने गुलकन्द और गुलाबकी उपयोगिताके प्रकारमें अन्तर बताया है। उपयोगी कला या गुल-कन्दका उपयोग मनुष्यकी भौतिक उन्नतिसे सम्बन्ध रखता है और ललित कला या गुलाबका उपयोग उसके मानस विकाससे सम्बद्ध है। अतः यह भेद वैज्ञानिक नहीं, प्रत्युत व्यावहारिक है।

पाश्चात्योंने तृप्तिदायक इन्द्रियोंके आधारपर ललित कलाओंको दो वर्गोंमें विभक्त किया है। ये इन्द्रियाँ दो हैं, नेत्र और श्रवण। इनके माध्यमसे हम कलाओंको ग्रहण करते हैं। वास्तु, मूर्ति, चित्र, नृत्य, नाट्य आदिका सम्बन्ध नेत्रोंसे और सङ्गीत, व्याख्यान, काव्य आदिका सम्बन्ध श्रवणोंसे है। प्रथम

"ललिते कलाविधौ"का दृष्टान्त और भी अनुचित है।

१. Judgement in Literature पृ० २

कोटिकी कलाएँ नेत्रोंके माध्यमसे हमें तृप्त करती हैं और दूसरी कोटिकी कलाएँ श्रवणोंके माध्यमसे हमें आनन्द प्रदान करती हैं। पाश्चात्योंका यह विभाजन भी प्रधानताको लक्ष्यमें रखकर किया गया है। नृत्य और नाट्यमें दर्शनक्रिया ही नहीं, स्वर-श्रवण-कर्म भी सम्पन्न होता है। इसी प्रकार काव्यमें श्रोता ही नहीं, पाठक भी रहा करता है। अतः पाठककी दृष्टिसे विचार करनेपर उसे नेत्रोंसे भी सम्बद्ध करना होगा। अतएव ललित कलाओंका यह विभाजन भी प्राधान्यव्यपदेशके अनुसार ही स्वीकृति हो सकता है।

हेगेलने मूर्त और अमूर्त आधारकी मात्राके अनुसार ललित कलाओंमें क्रम स्थापन किया है। उनका विचार है कि नेत्रग्राह्य तथा स्थूल भौतिक पदार्थोंसे अभिव्यञ्जित होनेवाली कलाएँ मूर्त हैं और श्रोत्रग्राह्य एवं सूक्ष्म भौतिक पदार्थोंसे अभिव्यञ्जित होनेवाली कलाएँ अमूर्त हैं। मूर्त और अमूर्त कलाओंमें भी उत्तरोत्तर सामग्रीकी सूक्ष्मताको लेकर उन्होंने क्रम लगाया है। इसीसे आधारकी सर्वापेक्षा स्थूलता होनेसे वास्तु निम्नकोटिकी कला है। इसके अनन्तर मूर्तिकलाका स्थान है। उसमें आधार यद्यपि मूर्त ही होता है तो भी मूर्तिकार जिस मूर्तिको प्रस्तुत करता है वह आधारसे सर्वथा भिन्न वस्तु हो जाती है। चित्र या आलेख्यमें चित्रकारका आधार मूर्त होते हुए भी लम्बाई-चौड़ाईसे रहित होकर केवल मुटाईमें सीमित हो जाता है। पर रङ्ग और रूप इसमें भी भौतिक ही भरे जाते हैं। सङ्गीतमें भौतिक आधार स्वरोंके आरोहावरोहके परिमाणमें ही सिमटकर आ जाता है। कथित तीनों कलाओंकी अपेक्षा स्वरोंका कोई मूर्तरूप नहीं होता। भाव-विमुग्ध करनेकी शक्ति सङ्गीतमें उनकी अपेक्षा अधिक रहती है। इस विशेषताके कारण ही काव्यमें नाद-सौन्दर्य या ध्वन्यार्थव्यञ्जकताका विधान किया जाता है। काव्यकला सर्वोच्च प्रकारकी कला है, क्योंकि उसकी उत्पत्ति मानस वृत्तियोंके द्योतक पदों एवं वाक्योंसे होती है।

हेगेलके उक्त वर्गीकरणकी समीक्षामें प्रसादजीने लिखा है कि इस प्रकारका वर्गीकरण पाश्चात्योंके लिए जितना सुगम है उतना पौरस्त्योंके लिए नहीं,

क्योंकि उन लोगोंका सौन्दर्यशास्त्र सम्बन्धी इतिहास अविच्छन्न चला आ रहा है, पर भारतीयोंकी सारी परम्पराएँ आज अपने शुद्ध रूपमें उपलब्ध नहीं हैं। हेगेलकी जो मनोवृत्ति काव्यकलाको सर्वोत्कृष्ट माननेमें दिखलाई पड़ती है उसका कारण काव्यकलाका परम्पराप्राप्त महत्त्व ही है। अन्यथा काव्यकला भी अपनी वर्णमालाओंसे प्रत्यक्ष मूर्तिमती है। पाणिनिके "स्वं रूपं शब्दस्याशब्द-संज्ञा" इस सूत्रसे भी शब्दकी स्वरूपता वर्णोंमें प्रतिपादित की गयी है। भारतीय तन्त्रशास्त्रोंमें तो वर्णमातृकाकी अत्यन्त विशद कल्पना की गयी है। "पैलियो-ग्रेफी"=लिपिशास्त्रके आधारपर अत्यन्त प्राचीन भाषाओंकी चित्रमयता सिद्ध ही है। अतः केवल अमूर्त भेदसे काव्यकी उत्कृष्टता प्रमाणित नहीं की जा सकती और हेगेलका यह विभाजन भी प्राधान्यव्यपदेशके सहारे ही स्वीकार किया जा सकता है।

प्रस्तुत निबन्धमें अन्य ललित कलाओंकी अपेक्षा काव्य ही महत्त्वपूर्ण एवं विवेच्य विषय है। काव्य अथवा साहित्यका मुख्य धर्म है रमणीयता। हमारा विचार है कि यदि काव्यको कला कहे बिना काम नहीं चलता तो ललित कलाओंके भी दो भेद करने चाहिये, सुन्दरतामूलक कलाओंमें वास्तु, मूर्ति, चित्र, सङ्गीतकलाएँ आती हैं और रमणीयतामूलक कलामें काव्यकी स्थिति है। सौन्दर्यमूलक कलाओंसे उत्पन्न की गयी वृत्तिमें स्थायित्व नहीं रहता। कोई भी मूर्ति या चित्र कितना ही अच्छा और सजीव क्यों न बना हो, दर्शक यही कहते पाये जायेंगे,-"वाह! क्या निर्माण है!" अतः मूर्तियों और चित्रों-से किसी भावका स्थायित्व नहीं बनाये रखा जा सकता। सङ्गीतकलामें जो थोड़ा-बहुत स्थायित्व दिखाई पड़ता है वह काव्यतत्त्वके अन्तःप्रवेशके कारण है। काव्यमें जो नाद-सौन्दर्यका आकर्षण हमें मिलता है उसका कारण सङ्गीत है। सङ्गीत और काव्य एक दूसरेके अत्यधिक पोषक हैं। इसीसे अंग्रेजी कवि मिल्टनने इन दोनों कलाओंको एक दूसरीकी भगिनी बताया है। जो भी हो, "शुद्ध सङ्गीतकला या तो उस्तादोंकी गलेबाजी होगी या वाद्योंकी गत" क्योंकि सङ्गीतमें गान, वादन एवं नर्तन तीनोंका ग्रहण होता है[1]।

---

१. गीतं वाद्यं नर्तनं च त्रयं सङ्गीतमुच्यते। श्रीचतुर दामोदर

जिस प्रकार गायन और वादित्र कौशलके आधायक होनेसे प्रशंसाके पात्र होते हैं उसी प्रकार नर्तकके हाव-भाव भी। उनमें काव्यका अंश भी बिना गृहीत हुए भावकी निष्पत्ति नहीं होती। काव्यमें रमणीयताकी ही प्रधानता रहती है, पर अन्य सौन्दर्यमूलक कलाएँ उसकी सहयोगिनी होकर श्रीवृद्धि करती हैं। किन्तु जब भावतत्त्व क्षीण होकर कलातत्त्व मात्र रह जाता है अथवा कलातत्त्व प्रधान हो जाता है तो उस वस्तुको समस्यापूर्ति आदि कलाओंके रूपमें भारतीयों ने ग्रहण किया था[1]।

पाश्चात्य समीक्षा-शास्त्रियोंने काव्यकलाके दो भेद माने[2] हैं,– आत्माभिव्यञ्जक=सब्जेक्टिव और बाह्यार्थनिरूपक=ऑब्जेक्टिव। पहले प्रकारकी रचनामें वस्तुके साथ कविका व्यक्तित्व विशेष रूपसे सम्बद्ध दिखाई पड़ता है। दूसरे प्रकारकी रचनामें कवि ज्योंका त्यों वस्तूपस्थापन करता है। पहले वर्गमें प्रगीति=लिरिक्स या स्वछन्द मुक्तक रचनाएँ आती हैं। दूसरे वर्गमें प्रबन्ध-काव्य, कथाकाव्य तथा नाटकोंकी गणना होती है। पाश्चात्योंका यह वर्गीकरण भी अत्यन्त स्थूल है। यह तो निश्चित ही है कि काव्यमें वर्णित वस्तुएँ कविके मानससे होकर अभिव्यक्त होती हैं। ऐसी अवस्थामें यह कैसे कहा जा सकता है कि वर्णित विषय कविके व्यक्तित्वसे सर्वथा असम्पृक्त रहा है। यदि ऐसा हो तो फिर एक ही विषयपर लिखनेवाले विभिन्न कवियोंकी कृतियोंमें वर्ण्य वस्तुओंकी प्रकृति और निरीक्षणका कोई अन्तर न होना चाहिये, पर होता ऐसा ही है। यह तो हुई बाह्यार्थनिरूपक वर्गकी अवस्था। यही बात आत्माभिव्यञ्जक पक्षके लिए भी उपयुक्त है। यदि कोई कवि ऐसी रचना प्रस्तुत करे जो बाह्य जगत्से एवं अन्य व्यक्तियोंकी अनुभूतियोंसे सर्वथा विलक्षण हो तो निश्चित है कि लोगोंकी प्रवृत्ति उस कृतिमें नहीं होगी। अतः इस वर्गके अन्तर्गत जो रचनाएँ गृहीत होती हैं उनमें बाह्यार्थके साथ व्यक्तिगत अनुभूतिका समन्वय होता है। अतएव काव्यकलाके इस वर्गीकरणमें भी प्राधान्यव्यपदेशके अनुसार ही सङ्गति लायी जा सकती है।

इस प्रकार कलाओंके वर्गीकरण और प्रकारपर विचार करनेके उपरान्त

---

१. द्रष्टव्य, "काव्य एवं कला" परिशिष्ट-क्रमसंख्या ३

२

उनकी, विशेषतः काव्यकी, मूल प्रेरणाओंपर विचार करना चाहिये। प्राच्यों-के विचारका उल्लेख हो चुका है। अब पाश्चात्योंके अनुसार विवेचन किया जाता है।

सामान्य रूपसे किसी भावका विचार अर्थात् आइडियाकी अभिव्यक्ति कलाओं-में होती है। स्काट जेम्सने किसी आदिम पुरुषका दृष्टान्त उपस्थित किया है जिसने किसी समय मौजमें आकर एक कुर्सी बना ली और किसी समय एक मानव-चित्र बना डाला। वे कहते हैं कि कुर्सीका निर्माण तो निश्चित रूपसे कुर्सीके रूपका ही था, किन्तु उस मानवके उल्लेखका प्रयोजन निश्चित रूपसे कोई मनुष्य नहीं था, प्रत्युत वह उल्लेख उस मनुष्यकी मानव-विषयक धारणा-की सामर्थ्यके अनुकूल अभिव्यक्तिमूलक इच्छा थी[1]। हम गत पृष्ठोंकी किसी टिप्पणीमें बता चुके हैं कि भारतीय परम्पराका एकदेश तथा शैली आदि पाश्चात्य विद्वान् काव्यके प्रेरक रूपमें किसी तीव्र भावका विधान करते हैं, भले ही वह तीव्र मनोवेग इन लोगोंके मतसे शोक हो और वैदिक कालके कवियोंके अनुसार हर्षका अतिरेक हो अथवा जैसा पाश्चात्य विद्वान् कल्पना करते हैं, भयङ्कर आपत्तियोंसे त्राण चाहनेवालोंका दैवी प्रसादन हो।

कलाकी मूल प्रवृत्तिके परिज्ञानके लिए आवश्यक है मानव समाजमें कला-के उद्भव एवं विकासका अध्ययन तथा व्यक्तिके मनमें कलाके सञ्चार और वृद्धि-का विश्लेषण। प्रथम विषयका अध्ययन पुरातत्त्व-शास्त्रका क्षेत्र है तथा द्वितीय मनोविज्ञानकी भूमि। दोनों विज्ञानोंकी उपस्थापनाओंका उल्लेखमात्र यहाँ अभीष्ट है।

मानव[2] और इतर प्राणियोंमें व्यवहारगत साधनप्रकारोंका ही सर्वाधिक अन्तर है। प्रकृतिके साथ सङ्घर्षमें विजय ही जीवनके परिरक्षणका उपाय है। इस सङ्घर्षमें साधनकी अपेक्षा है। इतर प्राणियोंके लिए शारीरिक साधन ही

---

१. द्रष्टव्य, "दी मैकिङ्ग आफ लिटरेचर"।

२. इस वृत्तका आधार प्रागैतिहासिक पुरातत्त्वके प्रख्यात विद्वान् बी. गोर्डन चाइल्ड डी. लिट; एफ. एस. ए.; एफ. बी. ए. की प्रसिद्ध पुस्तक "ह्वाट हैपेण्ड इन हिस्ट्री" है।

अलं हैं। कच्छपका गृह उसकी पीठपर है और शशक तथा सिंहके कुदाल और तलवार उनके पंजोंमें। परन्तु मानवसाधन अशारीरिक भी हैं । हाथ और मस्तिष्कके सहारे उसने भौतिक और मानस साधन एकत्र किये हैं।

मानस साधनमें प्रथम आविर्भाव भाषाका है और उसके साथ ही विचार-शक्ति भी उत्पन्न हुई। उस समय विचारकी सीमा थी उपयोगिता, शारीरिक आवश्यकताओंकी पूर्तिके लिए ही उसका उपयोग होता था। किन्तु मानव-समाज-की मानसिक संस्कृतिका विकास इस सीमातक आकर रुका नहीं। कला और धर्मने प्रवेश कर उसकी श्रीवृद्धि की।

प्राचीन पाषाण-युगके पूर्वार्धमें उत्पन्न होनेवाले ग्रैवेटियन और मैग-डालेनियन लोगोंके बनाये हुए बहुतसे चित्र फ्रान्सकी नदियोंकी दो-दो मील गहरी तराइयों में मिले हैं। इनमें आखेट-चित्रोंकी प्रधानता है। "मैम्मथ"-के दाँतों और प्रस्तरखण्डोंपर उत्कीर्ण स्त्रियों (वीनस) के चित्र भी प्राप्त हुए हैं जिनमें उनके अङ्ग-विशेषकी विवृति ही पायी जाती है। प्रथम कोटिके प्रस्तर-खण्डोंमें हरिण, गैंडे और विशालकाय हाथियों (मैम्मथ) के व्यक्तिचित्र मिलते हैं। इसका कारण यह दिया जाता है कि उस समय विचारोंकी परिपुष्टिके अभावसे जातिगत प्रतीक भावनाओंकी अभिव्यक्ति असम्भव थी। इन चित्रों-की प्रमुख विशेषताएँ हैं—प्रकृत वास्तविकता (नेचुरल रियलिज्म) और सजीवता (इनरवेशन)। अनुकरण और सादृश्य-विधानकी मूलप्रवृत्तियोंसे ही ये कलाकार परिचालित प्रतीत होते हैं। इसी स्तरके अफ्रीका-निवासियोंमें शरीर-रचनाकी प्रवृत्ति पायी जाती थी। वे अपने शरीरमें रज मलते थे और दाँतोंको तुड़वा डालते थे—सौन्दर्य-वृद्धि और धर्म-भावनाके लिए। इस प्रकार अत्यन्त प्राचीन कालमें (प्रायः २०००० से १००००० वर्ष पूर्व) कलाके मूलमें तीन प्रवृत्तियाँ दृष्टिगोचर होती हैं। प्रथमतः प्रकृत अनुकरण, द्वितीयतः व्यक्ति-सादृश्य-विधान, तृतीयतः अलङ्करण-वृत्ति।

इस युगमें कलाकी अभिव्यक्ति दो प्रयोजनोंके हेतु दिखाई पड़ती है। अपने शस्त्रों 'कोर' और 'फ्लेक्स' के निर्माणमें उपयोगितापर ही दृष्टि न रह-कर उनमें सौन्दर्यभावना भी निहित थी। यह सौन्दर्यभावना निरुपयोगी होने-

के कारण अपने शुद्ध रूपमें है। किन्तु चित्रोंके विधानमें और कौड़ियोंकी माला पहननेमें धर्मकी प्रेरणा होनेके कारण वह प्रयोजनवती हो गयी है। इस प्रकार उपयोगी और शुद्ध कलाओंके रूप आदिम कालमें भी प्रचलितथे।

मानव-समाजकी कला-भावनाके उद्भवपर विचार करनेके अनन्तर अब व्यक्तिके मनमें उद्भूत होनेवाली कलाकी भावना अन्वेष्टव्य है। यह क्षेत्र मनोविज्ञानका है। आधुनिक मनोविज्ञानमें उत्तरोत्तर भव्यबुद्धि फ्रायड, एडलर एवं युङ्गने विशेष कार्य किया है। फ्रायडकी धारणाका प्रत्याख्यान अथवा शोधन यद्यपि उनके शिष्य एडलर और युङ्ग इन दोनोंने किया है, तथापि अधिक महत्त्वपूर्ण विचार युङ्गका ही है। अतः फ्रायड और युङ्गकी कलाकी उद्भूति-विषयक धारणाका उपस्थापन किया जा रहा है।

आधुनिक मनोविज्ञान मनके दो रूपोंको स्वीकार करता है—१. ज्ञात मन और २. अज्ञात मन। ज्ञात मनका सम्बन्ध ज्ञानसे और अज्ञात मनका सम्बन्ध भावसे है। इन दोनों मनोंके बीचमें अर्धचेतन मन=सुपर ईगो है जिसे लोगोंने प्रतिहारी=सेन्सर कहा है। वस्तुतः अर्धचेतन मन ही अज्ञात मनका आवरणक है। इसका स्वरूपनिर्माण सामाजिक प्रतिबन्धोंके कारण होता है। फ्रायड मानते हैं कि अज्ञात मन अत्यन्त कुत्सित तथा स्वार्थपरायण है। यहाँकी वासनाएँ ही प्रतिहारी मनके माध्यमसे ग्राह्य रूपवाली होकर ज्ञात मनके क्षेत्रमें अवतरित होती हैं। ये दबी हुई वासनाएँ स्वप्न, आरोपण और कलाओंमें परिष्कृत रूप लेकर व्यक्त होती हैं। न व्यक्त होनेपर भाँति-भाँतिकी मानस बीमारियोंके रूपमें दिखाई पड़ती हैं। मनुष्य इनसे तटस्थ हो जानेपर स्वस्थ हो जाता है।

युङ्ग महाशयका विचार है कि कलाको दबी हुई वासनाओंकी अभिव्यक्ति कहना उसी प्रकार सत्य है जिस प्रकार खादसे पुष्पकी उत्पत्ति। बिना खादके पुष्प नहीं निकल सकता यह सत्य है, परन्तु पुष्प खादका रूपान्तर नहीं है। वह खादसे पैदा होनेवाले बिच्छूसे भी समानता नहीं ग्रहण करता फिर खादका रूपान्तर कैसे हो सकता है? अतः इस समस्याको सुलझानेके लिए

उन्होंने अज्ञात मनके दो विभाग किये हैं—व्यष्टिगत तथा समष्टिगत[1]। व्यष्टि-गत अज्ञात मन पुरानी अनुभूतियोंका नीड़ है जिसमें अनैतिक भावना याएँ तो प्रसुप्त पड़ी रहती हैं अथवा मानस रोगोंके रूपमें दिखाई पड़ती हैं। समष्टि गत अज्ञात मन मनुष्यकी समीपतम अनुभूति है, पर साथ ही व्यापक भी। जब कलाकार अपनेको इसी मनके अधीन कर देता है तब उत्कृष्ट कलाका सर्जन होता है। यह सृष्टि कवि और भावक दोनोंको आनन्द देनेवाली और कल्याणकारिणी होती है[2]। युङ्गका विचार है कि यदि कलाकी उत्पत्ति समष्टिगत अज्ञात मनसे न मानी जाय तो कलाकारकी निजी भावमय अनुभू-तियोंमें सबको आनन्द देनेकी शक्ति नहीं आ सकती।

प्रथम खंड समाप्त

---

१. समष्टिगत अज्ञात मनको युङ्गने सदसदुभय भावनाओंका आधार बताया है। पुनर्जीवनकी स्वीकृति उक्त विशेषताके साथ "आलय-विज्ञान" से सम्बद्ध की जा सकती है, तथा अमरत्वकी भावना उन सम्पूर्ण विशेषताओंके साथ वेदान्तकी आत्मकल्पनाके कुछ-कुछ समीप आने लगती है। इसीसे भारतीय रसशास्त्रियोंकी रसचर्वणा भी युङ्गीय मनोविज्ञानकी कलाभावनासे कुछ मिल सकती है।

२. अरस्तू की "दी थ्योरी आफ परगेशन" या विरेचनकी क्रियाकी यह नवीन मनोविज्ञानकृत व्याख्या है।

द्वितीय खंड

साहित्यशास्त्रका इतिहास

गत अध्यायमें संस्कृतके साहित्यक सम्प्रदायोंका उल्लेख हुआ है। इसका भी निर्देश किया जा चुका है कि साहित्यके दृश्य और श्रव्य उभय रूपोंमें रसकी सत्ता आरम्भसे ही थी। दृश्य काव्यशास्त्रमें रसका विवेचन प्रारम्भसे होने लगा और श्रव्य काव्यशास्त्रमें विवेचन विलम्बसे आया। दोनों प्रकारके काव्यशास्त्रोंकी परम्पराएँ तबतक पृथक्-पृथक् चलती रहीं जब तक श्रव्य काव्य-शास्त्र भी रसके भावात्मक धरातलपर नहीं आ गया। साहित्यशास्त्रके ऐति-हासिक विकासक्रमपर दृष्टि डालनेसे यह बात परिपुष्ट होती है[1]।

सम्प्रति, उपलब्ध साहित्यशास्त्रके ग्रन्थोंमें प्राचीनतम ग्रन्थ भरतका[2]

---

१. भामहके काव्यालङ्कारकी भूमिकामें पं० बटुकनाथ शर्मा एवं पं० बलदेव उपाध्यायने लिखा है कि प्रारम्भमें काव्यकी धारणा मुख्य रूप-से दृश्य काव्यपर थी, परन्तु धीरे-धीरे श्रव्य काव्यने दृश्य काव्यसे स्वतन्त्र होकर अपना अलग विकास किया। विकसित होनेपर श्रव्य काव्यशास्त्रके अन्तर्गत ही दृश्य काव्यशास्त्र भी आ गया (पृ० सं० ६४), किन्तु यह विचार उचित नहीं प्रतीति होता, क्योंकि नाट्यशास्त्र-के पूर्व ही वाल्मीकीय रामायणका निश्चित रूपसे प्रणयन होगया था। भवभूतिने उसके एक अंशको नाट्यरूपमें परिणत करके खेले जाने-का भी उल्लेख किया है और वह रामायण श्रव्य काव्य ही है। हाँ, यह अवश्य हो सकता है कि श्रव्य काव्यशास्त्र भी उस समय दृश्य काव्यशास्त्रके अधीन रहे हों जैसा कि नाट्यशास्त्रके विवेचनसे प्रकट होगा।

२. शारदातनयने भाव प्रकाशकी ३६ वीं कारिकामें उक्त नामके दो व्यक्तियोंका उल्लेख किया है, वृद्ध भरत या आदि भरत और भरत। आदि भरतने 'नाट्यवेदागम'का निर्माण किया था। इसमें १२

नाट्यशास्त्र[1] है। इस ग्रन्थ में तीन प्रकारकी रीतियाँ मिलती हैं—१. सूत्र-

---

सहस्रश्लोक थे। इसीसे बहुरूपमिश्रने दशरूपक (१,६२की टीका)-में "द्वादशसाहस्रीकार"का उद्धरण दिया है। भावप्रकाशकी २८७ वीं कारिकामें इसी बृहत्काय नाट्यवेदका षट्साहस्री रूपमें संग्रहीत होना भी उल्लिखित है। इसीके कर्ता भरत मुनि थे। बडौदासे प्रकाशित नाट्यशास्त्रके ८ वें पृष्ठपर अभिनव भारतीने षट्साहस्रीका उल्लेख किया है। परन्तु वर्तमान नाट्यशास्त्रमें ५००० श्लोक ही उपलब्ध हैं। विशेष विस्तारके लिए देखिये एम० कृष्णमाचारियर-का ग्रन्थ—(हिस्ट्री, आफ क्लैसिकल संस्कृत लिटलेचर)

पृष्ठ सं० ८१०।

नाट्यशास्त्रके समयके विषयमें बड़ा विवाद था। एस्.के.डेने ग्रन्थ-के वर्तमान रूपको अष्टम शतकका माना है (पृ० २६,२७), यद्यपि इसके सङ्गीत आदि कुछ अध्यायोंको उन्होंने चतुर्थ शतकका कहा है (पृ० ३२ हि. आ. सं. पोयटिक्स)। प्रो. मैकडानल्डने (संस्कृत लिटरेचर पृ० ४३४ पर) नाट्यशास्त्रको छठीं शताब्दीका माना है। प्रो. लेवीने इसका समय क्षत्रपोंका समय बताया है (इण्डियन एण्ठीकेरी पुस्तक ३३ पृ० १६३)। श्री काणेंने साहित्यदर्पणकी भूमिका (पृ० ८,९,१०) में नाट्यशास्त्रको ईस्वी सन्के आरम्भसे लेकर कालिदासके समयके मध्यमें माना है। म. म. हरप्रसाद शास्त्री इसे दो शतक ई. पू. मानते हैं (जनरल आफ एशियाटिक सोसाइटी १९१३ ई०, पृ० ३०७)।

परन्तु अब निश्चित हो गया है कि नाट्यशास्त्र ई०पू० का ग्रन्थ है। कालिदास ही नहीं, भरतके पूर्व भी इसकी रचना हो गयी थी। उपर्युक्त मतोंकी भी समीक्षा सेठ क.ला. पोद्दारने 'संस्कृत साहित्यका इतिहास' प्रथम भागमें की है। एम. कृष्णमाचारियर भी लिखते हैं–it may be sufficient to state that barring the

भाष्य, २. कारिका और ३. आनुवंश्य श्लोक। आधुनिक विद्वान् इस ग्रन्थको 'अनेक शताब्दियोंके दीर्घ प्रयासका सुन्दर फल' मानते हैं। इसीसे उन्होंने ग्रन्थका प्राचीनतम रूप माना सूत्र-भाष्यको और कारिकाओंको व्याख्या रूपमें ग्रहण किया तथा आनुवंश्य श्लोकोंको गुरु-शिष्यकी परम्परामें प्रचलित पद्य माना जो नाट्यशास्त्रको वर्तमान रूपमें देनेवाले प्राचीन सम्पादकके द्वारा स्थल-स्थल पर उदाहृत हुए हैं[1]।

नाट्यशास्त्रका प्रतिपाद्य विषय जैसा उसके नामसे ही स्पष्ट है, प्रमुख रूपसे दृश्य काव्य है, किन्तु छठें–सातवें अध्यायके रस-भाव-विमर्षके अतिरिक्त १५वें–१६वें-अध्यायका छन्द-विवेचन और १७ वें अध्यायमें काव्य-लक्षणों, अलङ्कारों, गुणों एवं दोषोंके निरूपण भी श्रव्य काव्यसे सम्बन्ध रखते हैं। इसीसे भरत मुनिने इन उपकरणोंका सम्वन्ध दृश्यकाव्यसे न लगाकर काव्य-सामान्यसे बताया है। जैसे काव्यकी परिभाषा पर ही विचार कीजिये। नाट्यशास्त्रके अनुसार उत्तम काव्य १–कोमल और मधुर पदों से युक्त, २–गूढ़ शब्द एवं अर्थसे रहित, ३–सब लोगोंको समझनेमें सुगम, ४–युक्तियुक्त, ५–नृत्यमें उपयुक्त, ६–रसके प्रवाहोंको प्रवाहित करनेवाला तथा ७–सन्धिके सन्धानसे युक्त होता है[2]। यह परिभाषा दृश्य काव्यके

---

epics it is the surliest available literature in sansksrit p. 811

१. यह मत प्राचीनोंको सम्मत नहीं हो सकता। अभिनवगुप्तपादाचार्यने तो उन 'नास्तिकधुर्योपाध्यायों'का खण्डन एवं उपहास किया है जो नाट्यशास्त्रको भरतमुनिके शिष्यों द्वारा प्रणीति बतलाते थे। देखिये—हि. ऑ. क्यै. सं. लिट. कृष्णमाचारियरकृत पृ० ८१५ पर उद्धृत अभिनव भारतीकी पंक्ति······"न तु मुनिरचितमिति यदाहुर्नास्तिकधुर्योपाध्यायास्तत्प्रत्युक्तम्।"

२. मृदुललित पदाढ्यं गूढशब्दार्थहीनम्,
जनपदसुखबोध्यं युक्तिमन्नृत्ययोज्यम्।
बहुकृतरसमार्गं सन्धिसन्धानयुक्तम्,

उपयुक्त तो है ही, यदि ५वें विशेषणको निकाल दें या वहाँ लययुक्त विशेषण कर दें तो यही परिभाषा श्रव्य काव्यके उपयोगी भी हो जायगी।

भरत मुनि रस सम्प्रदायके आद्य आचार्य माने जाते हैं। यद्यपि नाट्य-शास्त्रमें ऐसे उल्लेख मिलते हैं जिनसे भरतमुनिके पूर्व भी रसशास्त्रियोंकी सत्ताका पता चलता है[1], तथापि उनके सिद्धान्तोंकी उपलब्धि न होनेसे भरत मुनि ही रसशास्त्रके प्रथम प्रतिष्ठापक माने जाते हैं। इन्हींकी पंक्ति "विभावा-भावव्यभिचारिसंयोगाद्रसनिष्पत्तिः''को लेकर परवर्ती आचार्योंने 'संयोग' और 'निष्पत्ति' के विषयमें उत्पत्तिवाद, अनुमितिवाद, मुक्तिवाद तथा व्यक्तिवादके सिद्धान्त चलाये जिनमें अन्तिम मत सर्वाधिक प्रतिष्ठित हुआ। भरत मुनि सामान्य रूपसे नाटकोंमें आठ ही रस स्वीकार करते हैं [2], किन्तु उनका विशिष्ट मत यह है कि रत्यादि भाव विकृति है और शान्त प्रकृति। विकार प्रकृतिसे उत्पन्न होते हैं तथा फिर उसीमें लीन हो जाते हैं। वस्तुतः अपने-अपने कारणोंको प्राप्त करके शान्तसे भावोंका प्रवर्तन होता है और कारणोंके हट जानेपर वे पुनः शान्तमें ही लय हो जाते हैं[3]। इतना ही नहीं 'क्वचि-च्छमः' ऐसा करते हुए उन्होंने शम की प्रतीति मानी है [4]। सम्भवतः इसी

स भवति शुभकाव्यं नाटकप्रेक्षकाणाम् ॥

नाट्यशास्त्र १७,१२३

१. एते ह्यष्टौ रसाः प्रोक्ता द्रुहिणेन महात्मना।

६, १६ में द्रुहिणका उल्लेख है

२. शृङ्गारहास्यकरुणवीररौद्रभयानकाः।
बीभत्साद्भुतसंज्ञौ चेत्यष्टौ नाट्ये रसाः स्मृताः ॥ ६,१५

३. भावाविकारा रत्याद्याः शान्तस्तु प्रकृतिर्मतः।
विकार प्रकृतेर्जातः पुनस्तत्रैव लीयते ॥
स्वं स्वं निमित्तमादाय शान्ताद्भावः प्रवर्तते।
पुनर्निमित्तापाये तु शान्त एव प्रलीयते ॥

नाट्यशास्त्र (लोचन में पृ० ३९१ पर उद्धृत)

४. ध्वन्यालोककी पंक्ति 'शान्तश्च तृष्णाक्षयसुखस्य यः परिपोषस्तल्लोण

आधारपर पण्डितराजने शान्त रसकी भी अभिनेयता प्रतिपादित की है[1]। रसके विषयमें भरतकी दृष्टिसे अलौकिकताका पता नहीं चलता यह विचारणीय है। सम्भवतः नाट्यके साथ जो उन्होंने दैवी फलोंका सम्बन्ध जोड़ा है वह भी परवर्ती दार्शनिक आलङ्कारिकोंको रसके अलौकिक बनानेमें सहायक हो गया।

नाट्यशास्त्रके अन्य विषयों का निदर्शन आगे वर्णन किये जानेवाले सम्प्रदायोंके साथ किया जायगा। नाट्यशास्त्रके महत्त्वके विषयमें यह भी ज्ञातव्य है कि इसकी सर्वाङ्गीण पूर्णताके कारण अवान्तर कालमें स्वतन्त्र ग्रन्थोंका उतना प्रणयन नहीं हुआ जितना कि इसपर टीकाग्रन्थोंका निर्माण हुआ। दशरूपक, भावप्रकाश आदि ग्रन्थोंमें विषयको सुबोध करनेके अतिरिक्त और कोई नवीनता नहीं दिखाई पड़ती[2]।

नाट्यशास्त्रके अनन्तर कई शताब्दियाँ ऐसी आती हैं जिनमें साहित्यशास्त्रके विकासका पता नहीं चलता। षष्ठ शतकके पूर्वार्धमें या उससे पूर्व मेधावी या मेधाविरुद्र नामक कोई आलङ्कारिक थे जिनका निर्देश भामहके काव्यालङ्कारमें[3] और रुद्रटके काव्यालङ्कारकी नमिसाधुकृत टीकामें[4] अनेकशः प्राप्त

रसः प्रतीयत एव'पर व्याख्या करते हुए लोचनकारने उद्धृत किया है। पृ० ३९१

१. शृङ्गारः करुणः शान्तो रौद्रो वीरोऽद्भुतस्तथा।
हास्यो भयानकश्चैव बीभत्सश्चेति ते नव॥
इत्युक्तेर्नवधा मुनिवचनं चात्र मानम्।

रसगङ्गाधर पृ० ३६

२. धनञ्जय ने स्वयं कहा है—

व्याकीर्णे मन्दबुद्धीनां जायते मतिविभ्रमः।
तस्यार्थस्तत्पदैस्तेन संक्षिप्य क्रियतेऽञ्जसा॥

दशरूपक १, ३

३. द्रष्टव्य—भामहका काव्यालङ्कार। २,४०; २,८८

४. द्रष्टव्य—रुद्रटका काव्यालङ्कार। १,२ पृ० २ पर, २,२ पृ० ९ पर,

होता है। परन्तु इनका भी कोई ग्रन्थ उपलब्ध नहीं है। सम्भवतः 'रावण-वध'के प्रणेता भट्टि महोदय भी इन्हींके समसामयिक रहे होंगे। इसका कारण यह है कि यद्यपि वैदिक साहित्यमें उपमा, रूपक, दीपक आदि अनेक आलङ्कारिक रचनाएं मिलती हैं, तथापि सर्वप्रथम गार्ग्य, तत्पश्चात् यास्कने केवल उपमाका निरूपण किया। अनन्तर पाणिनिकी अष्टध्यायीमें उपमाके अवयवोंके पारिभाषिक शब्दोंका पता चलता है। फिर नाट्यशास्त्रमें उपमा, रूपक, दीपक और यमक—इन चार अलङ्कारोंका निरूपण मिलता है। इनमें भी उपमा एवं यमकका प्रभेदों सहित वर्णन हुआ है। नाट्यशास्त्रके पश्चात् अग्निपुराणमें १५ अलङ्कारोंका निरूपण किया गया है। यदि हम इस विकासक्रमसे देखें तो भट्टिका समय इन सबके बाद आता है[1]। विद्वानोंने अन्य प्रमाणोंके आधार-पर इनका समय षष्ठ शतक माना है। भट्टिके अनन्तर भामह तथा दण्डीका समय आता है। इनमें भी भामह पूर्ववर्ती हैं, यह बात अब प्रबलतर प्रमाणों-से सिद्धकी जा चुकी है[2]।

११,२४ पृ०१४५ पर नमिसाधुकी टीका।

१. विकासक्रमकी यह पद्धति सर्वत्र लागू नहीं है—जैसे भरतने यमक-के दश भेद माने हैं, पर भामहने पाँच ही। इस आधारपर भामह-को भरतका पूर्ववर्ती नहीं कहा जा सकता।

२. यद्यपि श्री नृसिंहाचार्य आयङ्गर (भामहके ग्रन्थोद्धारक) ने तथा श्री वी. पी. काणेने साहित्यदर्पणकी भूमिकामें दण्डीको भामह-का पूर्ववर्ती माना है, तथापि पं० बटुकनाथ शर्माने एवं पं० ए. बी. ध्रुवने भामहकी काव्यालङ्कारकी भूमिका तथा प्रस्तावमें भामह-को पूर्ववर्ती सिद्ध किया है। सेठ कन्हैयालालने अपने इतिहासमें भी भामहको पूर्ववर्ती माना है।

हमारा विचार है कि भामहके काव्यालङ्कारको षष्ठ शतकके उत्तरार्धमें और दण्डीके काव्यादर्शको सप्तम शतकके प्रथम चरण-में रचित मानना चाहिये क्योंकि ऐसा माननेसे भामह, दण्डी एवं बाणभट्टके बीच कथा और आख्यायिका-विषयक-शास्त्रार्थकी शृङ्खला

भामह प्रथम आलङ्कारिक हैं। इनका प्रसिद्ध ग्रन्थ 'काव्यालङ्कार' है। इस ग्रन्थकी इतनी महत्ता थी कि आनन्दवर्धन और मम्मट जैसे आलङ्कारिकशिरोमणि भी इसके अवतरण अपने ग्रन्थोंमें देते थे [1]। इस ग्रन्थके छः परिच्छेदों-

---

लग जाती है जिसका कथन गत अध्यायमें हो चुका है। बाणभट्ट सम्राट् हर्षवर्धन (सन् ६०६ से ६४७ ई०) के सभा पण्डित थे। उन्होंने हर्षचरित और कादम्बरी (पूर्वार्ध) की रचनाएँ सम्भवतः हर्षके राज्यकालके अन्तिम समयमें की होंगी। उन रचनाओंके पूर्व दण्डीका ग्रन्थ बन गया होगा जिससे उक्त अंशको बाणभट्टने पूर्वपक्ष बनाया।

बाबू ब्रजरतनदासने काव्यादर्शकी भूमिकामें लिखा है कि हालमें ही मद्रासमे प्रकाशित दण्डीकी अवन्तिसुन्दरीकथामें बाण और मयूरका उल्लेख है तथा कादम्बरीके पूर्वार्धका सारा घटनाचक्र इसके पूर्वार्धमें लिया गया है। केवल उत्तरार्ध ही दण्डीके मस्तिष्ककी उपज है। हमारा विचार है कि बाबू साहबका यह कथन युक्तिसङ्गत नहीं है। कादम्बरी स्वतः वासवदत्ताकी रीतिका सफल अनुकरण है। घटनाएँ और पात्र (नामान्तरित करके) बृहत्कथा से लिये गये हैं। ऐसी स्थितिमें दण्डी भी अपनी सामग्री बृहत्कथासे ले सकते थे। यदि हम अवन्तिसुन्दरीपर बाणभट्टकी छाया मान भी लें तो भी यह कैसे सिद्ध हो सकता है कि अवन्तिसुन्दरीकार और काव्यादर्शकार एक ही थे? 'त्रयो दण्डिप्रबन्ध'की उक्ति अत्यन्त विलक्षण है। यदि उसे मानें तो काव्यादर्शमें ही छन्दोविचित (१,१२) तथा कलापरिच्छेद (३,१७१) का उल्लेख उसे सार्थक बना देता है। फिर 'दशकुमारचरित' और 'अवन्तिसुन्दरीकथा'को काव्यादर्शकारके सिर कैसे मढ़ा जा सकता है?

१. द्रष्टव्य, पं० के. पी. त्रिवेदीका लेख 'इण्डियन एण्टीक्वेरी' पुस्तक।

के अन्तर्गत पाँच विषयोंका प्रतिपादन हुआ है[1]। भामहके मुख्य सिद्धान्त ये हैं—१-शब्द और अर्थका मिलकर काव्य होना—शब्दार्थौ सहितौ काव्यम्, २-कथा और आख्यायिकाका भेद-स्थापन, ३-वैदर्भी और गौडीय मार्गका भेदस्थापन, ४-भरत-प्रतिपादित दस गुणोंका—माधुर्य, ओज, प्रसादमें अन्तर्भाव, ५-गुणों और अलङ्कारोंका एक साथ निरूपण, ६-अलङ्कारोंके मूलमें 'वक्रोक्ति'का अस्तित्त्व, ७-दश-विध दोषोंका निरूपण और ८-शब्द, शुद्धिका बिचार।

भामहने सर्वप्रथम शब्द और अर्थके समन्वयमें काव्य माना। इसका कारण यह भी हो सकता है कि उन्होंने वैयाकरणोंके स्फोटका भयङ्कर खण्डन किया[2]। तदन्तर शब्दकी प्रधानताको कम करनेके लिए काव्यलक्षणमें अर्थ-तत्त्वको भी समन्वित कर दिया। फिर तो उनकी कल्पना को उत्तरोत्तर शक्ति मिलती रही[3]। द्वितीय सिद्धान्तपर शास्त्रार्थ चला[4]। तृतीयके विषयमें उनका कहना है कि उत्तम गुण जिस मार्गमें उपलब्ध हों वही ग्राह्य है। अल-

---

१. षष्ठ्या शरीरं निर्णीतं शतषष्ठ्या त्वलङ्कृतिः।
पञ्चाशता दोषदृष्टिः सप्तत्या न्यायनिर्णयः॥
षष्ठ्या शब्दस्य शुद्धिः स्यादित्येवं वस्तुपञ्चकम्।
उक्तं षड्भिः परिच्छेदैः भामहेन क्रमेण वः॥

२. शपथैरपि चादेयं वचो न स्फोटवादिनाम्।
नभः कुसुममस्तीति श्रद्दध्यात् कः सचेतनः॥

काव्यालङ्कार ६,१२

स्फोटका सम्बन्ध पाणिनिके पूर्ववर्ती वैयाकरण स्फोटायनसे बताया जाता है। इसका पल्लवन पतञ्जलिने महाभाष्यमें किया। अन्तमें भर्तृहरिके वाक्यपदीयमें यह सिद्धान्त अपनी पूर्णतापर पहुँच गया। इनका समय षष्ठ शतक है। सम्भव है, भामहके पूर्व हो जैसा कि उक्त खण्डन की तीव्रतासे स्पष्ट होता है।

३. इसका निदर्शन गत अध्यायमें किया गया है।

४. यह बात बतायी जा चुकी है और आगे भी उसका उपबृंहण होगा।

ङ्कारवत्ता, अग्राम्यत्व (शिष्ट शब्दों और भावोंका योग) अर्थ्यत्व (चमत्कारपूर्ण अर्थका होना), न्याय्यत्व (लोकशास्त्रानुमत) तथा अनाकुलत्व (शब्दाडम्बर-शून्यता), ये उत्तम गुण हैं[1]। भामह अलङ्कार-सम्प्रदायके प्रतिष्ठापक होनेके कारण अलङ्कारत्वका उपादान सर्वप्रथम करते हैं। चतुर्थ और पञ्चम विषय अत्यन्त सामान्य रूपसे प्रतिपादित हुए—इससे भी उक्त साम्प्रदायिकताका पोषण होता है।

छठा सिद्धान्त महत्त्वका है। भामहने तीसरे और चौथे अध्यायमें ३८ अलङ्कारोंका विवेचन किया। उन्होंने अग्निपुराणके 'वाग्वैदग्ध्य'को ग्रहण करके उसका पर्याप्त विस्तार किया, किन्तु 'काव्यजीवित' रसको रसवदादि अलङ्कारोंमें सन्निविष्ट कर दिया[2]। अर्थालङ्काररहित सरस्वतीको 'विधवा' तो नहीं बनाया,[3] परन्तु इतना अवश्य कहा कि लावण्यमय होनेपर भी वनिता-मुख यदि भूषारहित हो तो सुशोभित नहीं होता[4]। चमत्कारप्रिय होनेके कारण वे सभी अलङ्कारोंके मूलमें वक्रोक्ति=उक्ति-वैचित्र्यको स्थित मानते हैं[5]। वक्रोक्तिके न रहनेके कारण ही हेतु, सूक्ष्म और लेश अलङ्कार नहीं

---

१. अलङ्कारवदग्राम्यं अर्थ्यं न्याय्यमनाकुलम्।
गौडीयमपि साधीयो वैदर्भमिति नान्यथा॥

काव्यालङ्कार १,३५

२. वाग्वैदग्ध्यप्रधानेऽपि रस एवात्र जीवितम्।

अग्निपुराण ३३७,३३

३. अर्थालङ्काररहिता विधवेव सरस्वती।

अग्निपुराण ३४५,२

४. न कान्तमपि निर्भूषं विभाति वनिताननम्।

काव्यालङ्कार १,१३

५. सैषा सर्वत्र वक्रोक्तिरनयाऽर्थो विभाव्यते।
यत्नोऽस्यां कविना कार्यः कोऽलङ्कारोऽनया विना॥

काव्यालङ्कार २,८५

माने गये[1]। यह वक्रोक्ति अतिशयोक्तिका ही अपर पर्याय है[2]। स्वभावोक्ति-से इसका कोई विरोध नहीं है, प्रत्युत उसमें भी इसका चमत्कार दिखाई पड़ता है। परन्तु इतना होनेपर भी भामहने प्रहेलिकाओंको काव्य नहीं माना, साथ ही जटिल या दुरूह रचनाकारोंके प्रति खेद प्रकट किया है[3]।

चौथे अध्यायमें दश-विध दोषोंका सुन्दर विवेचन किया गया है। ये दोष कुछ तो भरतके दोषोंसे मिलते हैं, शेष स्वतन्त्र रीतिपर निरूपित हुए हैं। न्यायविरोधी दोषकी मीमांसामें पाँचवां अध्याय लगा है। छठेमें शब्द-शुद्धि-पर विचार है। इस विषयोंका विवेचन तात्कालिक न्याय एवं व्याकरणके व्यापक प्रभुत्वका द्योतक है।

भामहके काव्यालङ्कारके अनन्तर दण्डीके काव्यादर्शका समय आता है। काव्यादर्शमें तीन परिच्छेद हैं। प्रथममें भामहकी स्थापनाओंका खण्डन, द्वितीयमें अर्थालङ्कारोंका विवेचन, तृतीयमें यमक और चित्रालङ्कारोंका तथा दोषोंका निरूपण है।

दण्डीके विचार कुछ उलझे हुए हैं। इसका कारण यह है कि वे बहुत-से सिद्धान्तोंका समन्वय करना चाहते थे। यदि यह न हो तो उनकी अन्तः-

---

१. हेतुश्च सूक्ष्मो लेशोऽथ नालङ्कारतया मतः।
समुदायाभिधानस्य वक्रोक्त्यनभिधानतः॥

काव्यालङ्कार २,८६

२. काव्यालङ्कार २,८४

३. काव्यान्यपि यदीमानि व्याख्यागम्यानि शास्त्रवत्।
उत्सवस्सुधियामेव हन्त दुर्मेधसो हताः॥

काव्यालङ्कार २,२१

भामहका यह आक्षेप भट्टिके निम्नलिखित अवतरणपर ही प्रतीत होता है—

व्याख्यागम्यमिदं काव्यमुत्सवस्सुधियामलम्।
हता दुर्मेधसश्चास्मिन्विद्वत्प्रियचिकीर्षया॥

भट्टिकाव्य १२।३४

संज्ञामें इन तीन बातोंका होना आवश्यक है। पहली बात है वैयाकरणोंका स्फोटवाद जो काव्यशास्त्रमें गृहीत होकर ध्वनिसम्प्रदायके रूपमें अत्यन्त उत्कर्षको प्राप्त हुआ[1]। दूसरी बात है भरत मुनिका रसवाद जो बहुत समय पूर्वसे ही दृश्य काव्यशास्त्रोंमें प्रतिष्ठित था और अब दण्डीके समयमें श्रव्य काव्यशास्त्रमें भी पूर्ण रूपसे प्रवेश पानेकी तैयारी कर रहा था[2]। तीसरी बात है भामह आदि आलङ्कारिकोंकी अलङ्कारप्रियता जिसके सहारे श्रव्य काव्यशास्त्रने दृश्य काव्यशास्त्रसे अपनी सत्ता पृथक् की थी। दण्डीके मस्तिष्कमें इन सिद्धान्तोंके चक्कर काटते रहनेके कारण काव्यादर्शमें उनकी स्पष्ट छाया दिखाई पड़ती है।

दण्डीने स्फोटकी ओर अपना पक्षपात दिखाते हुए "इष्टार्थव्यवच्छिन्ना पदावली"को काव्यका शरीर माना, पद और पदार्थ दोनोंको नहीं[3]। कथा

---

१. द्रष्टव्य ध्वन्यालोककी तेरहवीं कारिकाकी वृत्तिमें 'सूरिभिः कथितः'-का व्याख्यान (पृ० १३२–१३४) तथा काव्यप्रकाशके द्वितीय सूत्रगत 'बुधैः' पदका वृत्तिमें विवरण (पृ० १९)।

२. आनन्दवर्धनाचार्य और अभिनवगुप्ताचार्य आदिने इसकी काव्यमें व्यवस्था की।

३. "शरीरं तावदिष्टार्थव्यवच्छिन्ना पदावली" यह काव्य-लक्षण "संक्षेपाद्वाक्यमिष्टार्थव्यवच्छिन्ना पदावली। काव्यं स्फुरदलङ्कारगुणवद्दोषवर्जितम्॥" (३३७,६) इस अग्निपुराणके लक्षणसे लिया गया है, किन्तु जहाँ अग्निपुराणमें 'इष्टार्थ'की व्याख्या "वाग्वैदग्ध्यप्रधानेऽपि रस एवात्र जीवितम्"में मिल जाती है वहाँ काव्यादर्शमें यह विषय अनुमेय है। डा. एस. के. डेने उक्त लक्षणको शब्दार्थोभयगत माना है, जो ठीक नहीं। भामह और दण्डीके लक्षणोंकी परम्परा क्रमशः रुद्रट, कुन्तक, मम्मट, वाग्भट्ट आदिमें और विश्वनाथ कविराज, पीयूषवर्षी जयदेव तथा पण्डितराज जगन्नाथ आदिमें मिलती है। भामह और दण्डीने अपने-अपने काव्यके शरीरको तो कहा, पर उसके आत्मपक्षके विषयमें वे मौन हैं। कारण यह है कि ये ग्रन्थकार स्वामी शङ्कराचार्यके पूर्वके हैं। अतः उनमें शरीर

एवं आख्यायिकाके भेदको नहीं माना। काव्यमार्गके विषयमें उनकी स्पष्ट घोषणा है कि वे 'प्रतिकवि'में स्थित हैं। परस्पर सूक्ष्म भेद होनेके कारण यद्यपि वाणीके मार्ग अनेक हो सकते हैं, तथापि स्फुट अन्तरवाले वैदर्भी और गौडीय मार्गोका वर्णन उन्होंने किया[1]। इस अन्तरकी स्पष्टताके लिए उन्होंने दस संख्यावाले गुणोंका आश्रय लिया। भरतके गुणोंसे उनका नामसाम्य भी है[2]। परन्तु उनके लक्षणोंमें बड़ा अन्तर है। भरतके गुण जहाँ काव्य-सामान्यके गुण हैं वहाँ वे दण्डीके वैदर्भ-मार्गके प्राण हैं और गौडीयमें प्रायः उनका विपर्यय दिखाई पड़ता है[3]। अतः वैदर्भ–मार्ग उत्कृष्ट है और गौडीय निकृष्ट। इस प्रकार सर्वप्रथम रीतियोंका विवेचन करनेके कारण दण्डी रीतिमार्गके उन्नयक माने जाते हैं।

और आत्माको पृथक् करके कहनेकी प्रबल परिपाटी नहीं है। अतएव यद्यपि भारतीय दर्शन कभी भी देहात्मवादी नहीं रहा, तथापि आचार्यके परवर्ती वामन आदि आलङ्कारिकोंने ही इस दृष्टिसे पृथक्-पृथक् विचार करना आरम्भ किया है। अतः पं० वटुकनाथ शर्माका यह कथन कि काव्यके आत्मपक्षका विचार आनन्दवर्धनसे आरम्भ हुआ, ठीक नहीं है।

१. अस्त्यनेको गिरां मार्गः सूक्ष्मभेदः परस्परम्।
तत्र वैदर्भगौडीयौ वर्ण्येते प्रस्फुटान्तरौ॥

काव्यादर्श १,४०

२. श्लेषः प्रसादः समता समाधिर्माधुर्यमोजः पदसौकुमार्यम्।
अर्थस्य च व्यक्तिरुदारता च कान्तिश्च काव्यस्य गुणाः दशैते॥

नाट्यशास्त्र १७,९६

श्लेषः प्रसादः समता माधुर्यं सुकुमारता।
अर्थव्यक्तिरुदात्तत्वमोजः कान्तिसमाधयः॥

काव्यादर्श १,४१

३. इति वैदर्भमार्गस्य प्राणा दशगुणाः स्मृताः।
एषां विपर्ययो प्रायः लक्ष्यते गौडवर्त्मनि॥ वही १,४२

दण्डीने उक्त गुणोंको शब्दार्थोभयनिष्ठ बताया है जिसकी स्पष्टता माधुर्य गुणके प्रसङ्गमें होती है[1]। परन्तु सभी गुण उभयनिष्ठ नहीं हैं। बहुतसे केवल शब्दनिष्ठ हैं। उन्होंने केवल एक स्थलको[2] छोड़कर सर्वत्र गुणालङ्कार-का भेद बनाये रखा है। यह स्थल भी उनका अपना नहीं है।

अलङ्कारोंको वे काव्यकी शोभा बढ़ानेवाले धर्मोंके रूपमें स्वीकार करते हैं[3]। धर्म कहनेका तात्पर्य यह है कि अलङ्कार काव्यके बाह्य उपकरण नहीं हैं जैसा अग्निपुराण और भामहके काव्यालङ्कारसे विदित होता है, प्रत्युत वे काव्य के धारणकर्ता हैं। धारणकर्ता होनेपर भी वे रसके परिपोषक हैं[4]। अतः-धारणकर्ताका तात्पर्य काव्यकी आत्मासे न होकर उसके साथ अवापोद्वापसे रहनेवाली स्थिति लेना चाहिये।

शब्दालङ्कार और अर्थालङ्कार दोनों ही दण्डीको स्वाभिमत हैं। शब्दा-लङ्कारमें पदासत्ति (श्रुत्यनुप्रास), अनुप्रास (वृत्यनुप्रास), यमक और चित्र आते हैं। इनमें अन्तिम दोको वे एकान्त मधुर नहीं मानते। अतः अन्तिम परिच्छेदमें उनका वर्णन करते हैं। अर्थालङ्कारोंका वर्णन करनेके पूर्व उन्होंने समस्त वाङ्मयको स्वभावोक्ति और वक्रोक्ति-विभागोंमें विभक्त कर दिया है, क्योंकि स्वभावोक्तिका मूलाधार स्वभावाख्यान एवं वक्रोक्तिका मूलाधार कल्पि-ताख्यान है। अतः स्वभावोक्ति और वक्रोक्ति परस्पर विरोधी वस्तुएँ हैं।

---

१. माधुर्यं रसवद्वाचि वस्तुन्यपि रसस्थितिः।
येन माद्यन्ति धीमन्तो मधुनेव मधुव्रताः॥

काव्यादर्श १,५१

२. भाविकत्वमितिप्राहुः प्रबन्धविषयं गुणम्।

वही, २,३६४

३. काव्यशोभाकरान् धर्मानलङ्कारान् प्रचक्षते।

वही २,१

४. कामं सर्वोऽप्यलङ्कारः रसमर्थे निषिञ्चति।

वही १,६२

स्वभावोक्तिका साम्राज्य शास्त्रोंमें तो है ही, काव्योंमें भी यह अभीप्सित है[1]। अतः आद्या अलङ्कृति है। इसीका पर्याय 'जाति' है। इसे 'वार्ता'से भिन्न समझना चाहिये। वक्रोक्तिके आभोगमें शेष ३१ अर्थालङ्कारोंका ग्रहण हुआ है। इन अलङ्कारोंकी शोभा श्लेषसे बढ़ती है,[2] अतिशयोक्तिसे नहीं; क्योंकि एक स्थानपर[3] उन्होंने बताया है कि लोकातीत वर्णन विदग्धेतर लोगोंकी समझमें नहीं आता। यहाँ हम देखते हैं कि भरत मुनिकी 'जनपदसुखबोध' दृष्टि सिद्धान्तके क्षेत्रमें अब भी मान्य थी, भले ही व्यवहारकी रक्षाके लिए दण्डीको पचासों प्रकारके यमकों एवं चित्रालङ्कारों का वर्णन करना पड़ा हो।

दण्डीने भी दोषोंका निरूपण किया है। ये दोष भामहके द्वारा निरूपित हो चुके थे। उन्हींका किञ्चित् उलट-फेरके साथ निरूपण हुआ है। इन दोषोंसे सावधान रहनेके लिए वे सबको प्रेरणा करते हैं। क्योंकि सुन्दरवपु भी कोढ़के एक छींटेसे दुर्भग हो जाता है[4]।

इस प्रकार काव्यादर्शके निष्कर्षोंको निम्नलिखित वर्गोंमें संगृहीत किया जा सकता है:—१—शब्दको काव्य मानना, २—काव्यमें दोषशून्यताका होना, ३—काव्यमार्गका द्वैविध्य, ४—द्वैधीभावके आधार गुण हैं, ५—गुण कहीं शब्दगत एवं कहीं अर्थगत भी हैं, ६—शब्द-गुणोंमें श्रुत्यनुप्रास और वृत्त्यनुप्रासका अन्तर्भाव, ७—शेष अलङ्कारोंकी धर्मरूप कल्पना होनेके कारण किसी भी मार्गके आश्रयणमें स्वातन्त्र्य, ८—अलङ्कार रसके उपस्कारक हैं, किन्तु गुण रसावह हैं, ९—अतः रसोंका अलङ्कारोंके क्षेत्रसे गुणोंके क्षेत्रमें अवस्थापन, १०—परन्तु फिर भी रसको रसवदादि अलङ्कारोंमें खींचने-

१. शास्त्रेष्वस्यैव साम्राज्यं काव्येष्वप्येतदीप्सितम्।
काव्यादर्श २,१३

२. श्लेषः सर्वासु पुष्णाति प्रायो वक्रोक्तिषु श्रियम्।
भिन्नं द्विधा स्वभावोक्तिः वक्रोक्तिश्चेति वाङ्मयम्॥
वही २,३६३

३. द्रष्टव्य काव्यादर्श। १,८९

४ तदल्पमपि नोपेक्ष्यं काव्ये दुष्टं कथञ्चन।
स्याद्वपुः सुन्दरमपि श्वित्रेणैकेन दुर्भगम्॥ वही १,७

से काव्यादर्शकार भी अलंकार-सम्प्रदायके सिद्ध होते हैं। भले ही वे रीति-मार्ग के उन्नायक भी रहे हों [१]।

दण्डीके अनन्तर वामन और उद्भटका समय आता है। दोनों ही समान-कालिक, प्रतिस्पर्धी एवं सम्राट् जयापीड (सन् ७७६ से ८१३ ई०) के दर-बारी थे। अन्तर यह था कि यदि वामन मन्त्री थे[२] तो उद्भट विद्वत्परिषद्-के सभापति थे,[३] पर आलंकारिक दोनों थे। यदि पहले रीति-सम्प्रदायके आचार्य थे तो दूसरे अलङ्कार-सम्प्रदायके पोषक थे। एकने "काव्यालङ्कार-सूत्र"की रचना की तो दूसरेने "काव्यालङ्कारसारसङ्ग्रह"का निर्माण किया।

वामनने काव्यालङ्कारसूत्रके पाँच अधिकरणों एवं तद्गत द्वादश अध्यायों-में निम्नलिखित विषयोंका मुख्य रूपसे प्रतिपादन किया है:—१—काव्यके शरीर और आत्मा उभयपक्षोंका विवेचन, २—अलङ्कारोंकी व्यापक अर्थात् भावप्रधान व्युत्पत्ति, ३—गुणों एवं अलङ्कारोंका विभेद, ४—त्रिविध रीतियों-का प्रतिपादन, ५—समग्र अर्थालङ्कारोंको उपमा-प्रपञ्च मानना, ६—वक्रोक्ति और विशेषोक्तिका विचित्र लक्षण और, ७— काव्य-समय। सम्प्रति इनका संक्षिप्त परिचय दिया जाता है।

वामनके अनुसार "काव्य शब्दका व्यवहार गुणों और अलङ्कारोंसे संस्कृत शब्दार्थोंमें होता है तथा काव्यके लक्षणमें शब्दार्थमात्र कहना लाक्षणिक प्रयोग है[४]।" शब्दार्थ ही काव्यका शरीरपक्ष है। 'रीति' इसकी आत्मा

---

१. द्रष्टव्य काव्यादर्श। कारिका २,२७५ तथा २,३६७।

२. मनोरथः शङ्खदत्तश्चटकः सन्धिमांस्तथा।
बभूवुः कवयस्तस्य वामनाद्याश्च मन्त्रिणः॥

राजतरङ्गिणी ४,४९७

३. दीनारशतलक्षेण प्रत्यहं कृतवेतनः।
भट्टोऽभूद् उद्भटस्तस्य भूमिभर्तुः सभापतिः॥

राजतरङ्गिणी ४,४९५

४. काव्यशब्दोऽयं गुणालङ्कारसंस्कृतयोरशब्दार्थयोर्वर्तते।

है[१]। पदोंकी विशिष्ट रचनाको रीति कहते हैं[२]। गुण पदरचनाकी विशिष्टताके सम्पादक हैं[३]। ये दो प्रकारके होते हैं—शब्दगुण और अर्थगुण[४]। शब्द-गुण बन्धगुण हैं। इसकी सहायतासे रीतियोंका विवेचन सरलतापूर्वक किया गया है। अर्थगुणकी व्यापकतामें काव्यके समस्त अङ्गोंके साथ रसका समावेश हुआ है[५]। इसीसे अर्थगुणकी सम्पत्ति विशेष आस्वादनीय मानी गयी हैं[६]।

काव्यके ग्राह्य होनेके कारण हैं—अलङ्कार[७]। परन्तु इनकी कल्पना लौकिक आभूषणोंके समान नहीं है जैसा हमें अग्निपुराण और भामहके काव्यलङ्कारमें मिलता है। इनका प्रसार सौन्दर्यके आभोगको व्याप्त कर लेता है[८]। उस सौन्दर्यकी निष्पत्ति दोषोंके निवर्तन एवं गुणालङ्कारोंके प्रवर्तनसे होती है,[९] किन्तु इससे यह न समझना चाहिये कि गुण और अलङ्कार एक ही कोटिके पदार्थ हैं जैसा भामह और दण्डीने माना था। इन दोनोंमें यह अन्तर है कि

भक्त्या तु शब्दार्थमात्रवचनोऽत्र गृह्यते ॥

काव्यालङ्कारसूत्र १,१,१ की वृत्ति।

१. रीतिरात्मा काव्यस्य–(१,२,६) रीतिर्नामेयमात्मा काव्यस्य। शरीरस्येवेति वाक्यशेषः (वृत्ति)।

२. विशिष्टा पदरचना रीतिः। १,२,७

३. विशेषो गुणात्मा। १,२,८

४. सर्वप्रथम भामहने माधुर्य गुणको शब्दार्थोभयनिष्ठ माना, पर वामनने सर्वप्रथम सभी गुणोंका शब्द-अर्थ-भेदसे द्वैविध्य स्वीकार किया। अन्तमें पण्डितराजने गुणोंकी रसनिष्ठताका खण्डन करके इन्हीं भेदोंका पल्लवन रसगङ्गाधरमें किया है।

५. दीप्तरसत्वं कान्तिः। ३,२,१४

६. तासामर्थगुणसम्पदास्वाद्या। १,२,२०

७. काव्यं ग्राह्यमलङ्कारात्।

काव्यालङ्कारसूत्र १,१,१

८. सौन्दर्यमलङ्कारः। १,१,२

९. स दोषगुणालङ्कारहानादानाभ्याम्। १,१,३

गुण काव्यके शोभाधायक धर्म हैं तथा अलङ्कार काव्यके उत्कर्षाधायक हेतु हैं[1]। अलङ्कारकी उक्त द्विविध कल्पनाओंमें विरोध नहीं है, क्योंकि वामनके मतसे काव्यका समग्र सौन्दर्य अलङ्कार-पदवाच्य है। इसमें पूर्वाचार्यों द्वारा निरूपित गुण एवं अलङ्कार दोनों समाविष्ट हैं। परन्तु पूर्वाचार्य गुण और अलङ्ककारको एक ही पदार्थ समझते थे, यह असङ्गत था। वस्तुतः उनमें उक्त भेद वर्तमान है।

दण्डीने वैदर्भ-मार्गको श्रेष्ठ और गौडीयको निकृष्ट माना था, क्योंकि एक-में समग्र गुणोंका सद्भाव और दूसरेमें गुणोंका विपर्यय था। वामन किसी भी रीतिमें गुणोंका विपर्यय नहीं मानते। इनकी रीतियोंके उत्कर्षापकर्षका भेद करनेवाली गुणोंकी मात्राएँ हैं। वैदर्भी रीति समस्त गुणोंसे युक्त रहती है[2]। गौडीया रीतिमें ओज और कान्ति नामक गुण रहते हैं[3]। पाञ्चाली रीति माधुर्य एवं सौकुमार्य गुणोंसे विलसित होती[4]। इन रीतियोंमें निकृष्ट कोई भी नहीं है, तथापि गुणसाकल्य वैदर्भीमें होनेसे वही ग्राह्य है[5]। स्तोक गुणों-वाली अन्य रीतियाँ आदर्श नहीं हो सकतीं[6]।

वामनने ३३ अलङ्कारोंका निरूपण किया है जिनमें वक्रोक्ति तथा व्याजोक्ति-की कल्पनाएँ नवाविष्कृत हैं। शेष प्राचीनोंके समान ही हैं। भामह और दण्डीके रसवदादि अलङ्कारोंको उन्होंने छोड़ दिया है और शेष अलङ्कारोंमें वक्रोक्ति और विशेषोक्तिकी धारणाएँ भी विलक्षण हैं। सादृश्यके कारण की जानेवाली लक्षणाको वे वक्रोक्ति कहते हैं[7]। इसकी समानता दण्डीके समाधि-

---

१. काव्यशोभायाः कर्तारो धर्मा गुणाः तदतिशयहेतवोऽलङ्काराः३,१,१-२

२. समग्रगुणा वैदर्भी। १,२,११

३. ओजः कान्तिमती गौडीया। १,२,१२

४. माधुर्यसौकुमार्योपपन्ना पाञ्चाली। १,२,१३

५. तासां पूर्वा ग्राह्या गुणसाकल्यात्। १,२,१४

६. न पुनरितरे स्तोकगुणत्वात्। १,२,१५

७. सादृश्याल्लक्षणा वक्रोक्तिः। ४,३,२२

गुणसे है जिसे उन्होंने 'काव्यसर्वस्व' एवं 'कविसार्थ'का ऐकान्तिक उपजीवित माना है। वामन वहाँ विशेषोक्ति मानते हैं जहाँ उपमेयमें एक गुणकी हानि कल्पित करके शेष गुणों द्वारा समताकी दृढ़ता की जाती है[1]। रसगङ्गाधरकार इसीको "दृढारोपरूपक" कहते हैं।

उपमा ही अलङ्कारोंका मूल है[2]—यह विचार वामनने सर्वप्रथम स्थापित किया। फिर तो मूलविचारकी परम्परासी चल पड़ी। सबसे पहले आनन्दवर्धनके समसामयिक या कुछ ही उत्तरवर्ती आलङ्कारिक रुद्रटने ५८ अर्थालङ्कारोंको वास्तव, औपम्य, अतिशय और श्लेष—इन चार वर्गोंमें निरूपित किया। इनके पश्चात् १२ वीं शतीके आरम्भमें होनेवाले अलङ्कारसर्वस्वकार रुय्यकने ७५ अलङ्कारोंका यथार्थ एवं सुस्पष्ट आधारोंपर विवेचन किया। १७ वीं शतीमें अप्पय दीक्षितने (जिस समय मुख्य-मुख्य अलङ्कारोंकी संख्या १५० को पार कर गयी थी) चित्रमीमांसामें सादृश्यमूलक अलङ्कारोंके विषयमें लिखा कि 'उपमा एक नटीके तुल्य है जो काव्यके रङ्गमञ्चपर वेष बदल-बदलकर रङ्ग दिखाती है और सहृदयोंका अनुरञ्जन करती है[3]। आजके युगमें भी अलङ्कारोंके मूलका अनुसन्धान चल रहा है,—मनोविज्ञानकी दृष्टिसे, स्वप्न-सिद्धान्तकी दृष्टिसे। अतः वामनने जिस विचारका उन्नयन किया वह निश्चित रूपसे अपूर्व महत्त्वका था।

उदाहरण है—"उन्मिमील कमलं सरसीनां कैरवं च निमिमील मुहूर्त्ताद्।" इसमें नेत्रधर्म उन्मीलन एवं निमीलनके सादृश्यसे कमलोंका विकास-सङ्कोच लक्षित होता है। ध्वनिवादियोंके मतमें इसका प्रयोजन अविवक्षित वाच्यध्वनिकी कोटिमें जायगा। सम्भवतः "भावतमाहुस्तमन्ये"से ध्वनिकारने इन्हींकी ओर सङ्केत किया है।

१. एकगुणहानिकल्पनायां साम्यदाढर्यं विशेषोक्तिः। ४,३,२३
२. द्रष्टव्य ४,२ की प्रास्ताविक वृत्ति—तन्मूलश्च उपमेति सैव विचार्यते।
३. उपमैका शैलूषी सम्प्राप्ता चित्रभूमिकाभेदात्।

वामनने अन्तिम अधिकरणमें काव्य-समयका निरूपण एवं शब्द-शुद्धिका विवेचन किया है। प्रथम विषय भी वामनकी मौलिक स्थापना है जिसका विस्तारपूर्वक विचार राजशेखरने काव्यमीमांसामें किया। द्वितीय विषय साधारण है और बहुत कुछ भामहसे मिलता-जुलता भी है। इस प्रकार अनेक महत्त्वपूर्ण स्थापनाओंका श्रेय वामनको अन्यतम आचार्योंमें प्रतिष्ठित करता है।

उद्भट अलङ्कार सम्प्रदायके पृष्ठपोषक थे। इसीसे प्राचीन परम्पराके अनुसार उन्होंने अत्यन्त प्राचीन आलङ्कारिक भामहके ग्रन्थपर भामह-विवरण नामक टीका-ग्रन्थ लिखा था जो आज प्राप्य नहीं है। अतः "काव्यालङ्कारसारसंग्रह"-पर ही इनकी कीर्ति टिकी हुई है। इस ग्रन्थके छः वर्गोंमें ७६ कारिकाओंके द्वारा ४१ अलङ्कारोंका विवरण किया गया है। इनमेंसे १२ अलङ्कारोंका लक्षण अक्षरशः भामहसे लिया गया है। और भी अलङ्कारोंके लक्षण भामहसे मिलते हैं। इससे ज्ञात होता है कि इन्होंने भामहके लक्षणोंका ग्रहण, परिवर्तन या त्याग अपने मतके अनुकूल किया है। इनके नवीन सिद्धान्त ये हैं:—१ अर्थभेदसे शब्दभेदकी कल्पना=अर्थभेदेन तावत् शब्दाः भिद्यन्ते। २–शब्द और अर्थभेदसे श्लेषका द्वैविध्य। ३–उभय श्लेषोंका अर्थालङ्कार होना (इसका खण्डन मम्मटाचार्यने किया है)। ४–अलङ्कारोंके योगमें श्लेषकी प्रबलता (इसका भी खण्डन काव्यप्रकाशमें है)। ५–अर्थद्वैविध्य—विचारित–सुस्थ एवं अविचारित रमणीय। ६–गुणोंको सङ्घटना मानना (इसका विशिष्ट विचार ध्वनिकारने किया है)।

उद्भटके अनन्तर नवम शतकके मध्य भागमें आचार्य आनन्दवर्धन का साहित्यिक क्षेत्रमें युगान्तरकारी समय आता है[1]। इनकी अद्भुत शेमुषीका परिचायक ग्रन्थ "ध्वन्यालोक" है। इसमें ध्वनिका अङ्गीरूपमें प्रतिपादन

रञ्जयति काव्यरङ्गे नृत्यन्ती तद्विदां चेतः॥

चित्रमीमांसा पृ० ६

१. मुक्ताकणः शिवस्वामी कविरानन्दवर्धनः।
प्रथां रत्नाकरश्चागात् साम्राज्येऽवन्तिवर्मणः॥

एवं शेष सभी पूर्ववर्ती आलङ्कारिक सिद्धान्तों का—अलङ्कार, गुण, रीति आदिका—अङ्गरूपमें उपस्थापन किया गया है। ध्वनिके अङ्गीरूपमें उन्मीलित किये जानेका आधारभूत तत्त्व रस है[1]। रसको अभिधेय कहनेसे दो पक्ष उपस्थित होते हैं,—स्वशब्दनिवेदित्व तथा विभावादिप्रतिपादनपरत्व। अन्वय व्यतिरेकसे विचार करनेपर द्वितीय पक्ष ही ठीक उतरता है। विभावादिके रहनेपर इसके प्रतिपादक शब्द चाहे हों या नहीं, रसप्रतीति होती है। इसलिए रसको वाच्य नहीं कह सकते। लक्ष्य कहना भी असमञ्जस है क्योंकि लक्षणा का प्रवर्तन तात्पर्यकी अनुपपत्तिपर ही होता है। अतः रसको व्यंङ्गय माननेके अतिरिक्त और कोई चारा नहीं है, किन्तु रस ही नहीं, वस्तु-अलङ्कार भी व्यङ्गय होते हैं, क्योंकि उस(ध्वनि)का विस्तार अधिक है। वस्तु और अलङ्कारका संलक्ष्यक्रमत्व तथा रसका असंलक्ष्यक्रमत्व ही उनका परस्पर पर्याप्त व्यावर्तक है। किसी एकको ध्वनि कहना तो "ध्वनिध्वंस' ही हुआ।

आनन्दवर्धनने ध्वनिका उन्मेष करते हुए कई विरोधियोंका खण्डन किया है। वस्तुतः विरोधीपक्ष तीन थेः—१—अभाववादी, २—भक्तिवादी और ३—अनिर्वचनीयतावादी। ध्वनिका अभाव प्रतिपादित करनेवालोंमें भी तीन मतावलम्बी थेः—(क) कुछ लोगोंका विचार था कि "जब शब्दार्थौ काव्यम् है तब उसमें शब्दगत चारुताके, अर्थगत चारुताके और बन्धगत चारुताके आधायकोंके अतिरिक्त ध्वनिपदार्थ कहाँसे आ गया?" (ख) दूसरे लोग कहते थे कि "ध्वनि कोई पदार्थ नहीं है, क्योंकि काव्यका प्रधान गुण सहृदयोंको आनन्द देना है। उस आनन्दकी निष्पत्ति उक्त उपकरणोंसे ही सम्पन्न होती है। अतः यदि कोई अन्य उपकरण बतलाना है तो यह भी निश्चित है कि उसमें 'सकलविद्वन्मनोहारिता' नहीं रह सकती।" (ग) तीसरे लोगोंका कथन था कि "ध्वनि कोई अपूर्व तत्त्व नहीं है। वस्तुतः काव्यके अनेक सौन्दर्याधायकोंमेंसे किसी एकका नवीन व्याख्यान हो सकता है। फिर इसमें प्रशंसाकी कोई बात नहीं है, क्योंकि 'वाग्विकल्पों'की संख्या अनन्त है। बहुतोंने उसका प्रतिपादन किया है और बहुतेरे करेंगे भी।"

---

१. द्रष्टव्य, इस ग्रन्थके पृष्ठ सं० ११ पर उद्धृत 'लोचन'की वृत्ति।

इन पाँच प्रकारके विरोधियोंका सामना करनेके लिए आनन्दवर्धनने कहा कि हम भी "शब्दार्थौ सहितौ काव्यम्" मान लेते हैं। किन्तु जैसे मनुष्य शरीर और आत्माकी युगपत् स्थितिमें ही मनुष्य कहलाता है वैसे ही काव्य-में शरीर और आत्माका होना आवश्यक है। शरीर तो सभी नेत्रवालोंको प्रत्यक्ष होता है, किन्तु आत्माका ज्ञान दो प्रकारसे होता है—एक तो शरीरस्थ और दूसरा शरीरातिरिक्त। प्रथम पक्ष बाल-बुद्धिवालोंका है और दूसरा विवेकियोंका। काव्यका शरीर शब्द भी सबको ज्ञात होता है और उसका साक्षात् अर्थ=शब्दस्थार्थ भी सबको बुद्ध हो सकता है। किन्तु शब्दातिरिक्त अर्थ=प्रतीयमानार्थ सहृदयोंको ही ज्ञात होता है। अतः सहृदयश्लाघ्य अर्थ जो काव्यात्मा-रूपसे व्यवस्थित है उसके वाच्य एवं प्रतीयमान–ये दो भेद माने जाते हैं। वाच्यकी शोभा गुणों और अलङ्कारोंसे प्रस्फुटित होती है, परन्तु व्यङ्ग्यार्थकी व्यक्ति ललनालावण्यकी भाँति अङ्गसंस्थानसे अतिरिक्त दिखाई पड़ती है। वाच्यार्थ व्यङ्ग्यार्थकी पीठिका अवश्य है, पर उसी प्रकार जैसे आलो-कार्थीका दीपशिखामें यत्न अथवा वाक्यार्थावगम करनेवालेका पदार्थ सङ्घ-टनामें प्रयत्न। अतएव आनन्द उसे ध्वनिकाव्य कहते हैं जिसमें वाच्यविशेष या वाचकविशेष अपनेको उपसर्जित करके प्रतीयमानार्थकी अभिव्यक्ति करते हैं। इस लक्षणके द्वारा वाच्यवाचकचारुत्वके निबन्धक अर्थालङ्कारों और शब्दा-लङ्कारोंसे ध्वनिका पार्थक्य स्पष्ट हो जाता है। अतः व्यङ्ग्यव्यञ्जकभावाश्रयी ध्वनिका समाहार अलङ्कारवर्गमें नहीं हो सकता। समासोक्ति आदि अलङ्कारोंमें ध्वनिके अप्रधान रहनेके कारण उनमें ध्वनिकाव्यका व्यवहार नहीं हो सकता। वस्तुतः व्यङ्ग्यकी अप्रधानतामें, वाच्यव्यङ्ग्यकी श्लिष्टप्रतीतिमें, वाच्यके सम-प्राधान्यमें, अथवा स्फुटप्रधानतामें ध्वनिकाव्यन ही हो सकता। जहाँ व्यङ्ग्य-परक होकर ही शब्द और अर्थ रहते हैं वहीं ध्वनिकाव्य होता है। इस प्रकार अभाववादियोंके पक्षत्रयका निरसन हो गया।

ध्वनिकी सिद्धि होनेपर भी ध्वनिका अन्तर्भाव लक्षणामें नहीं हो सकता, क्योंकि लक्षणा और व्यञ्जनाका स्वरूपभेद है। लक्षणा "अभिधा पुच्छभूता" है, परन्तु व्यञ्जना उससे आगेकी वृत्ति है। लक्षणामें ध्वनिको अन्तर्भुक्त माननेसे

अतिव्याप्ति एवं अव्याप्ति दोष प्रसक्त होते हैं। अतिव्याप्ति वहाँ होगी जहाँ ध्वनिके बिना भी लक्षणा दिखाई पड़ती है, जैसे निरूढ़ा लक्षणामें। अव्याप्तिका प्रसङ्ग विवक्षितवाच्य ध्वनिके विषयमें दिखाई पड़ेगा। यदि लक्षणासे ध्वनिको उपलक्षित माना जाय तो यह भी मानना पड़ेगा कि प्रत्येक अलङ्कारका लक्षण बनाना व्यर्थ है, क्योंकि अभिधाके लक्षणसे सम्पूर्ण वाच्यवाचकवर्ग निरूपित हो जायगा। अतः ध्वनि लक्षणामें समाहित नहीं हो सकती। ध्वनि व्यापक तत्त्व है।

अनिर्वचनीयतावादी दो प्रकारके सम्भव थेः—१—लक्षणाकरणशालीन बुद्धि एवं २—स्तुतिपाठक। आनन्दवर्धनकी ध्वनिकी स्थापनाके साथ ही यह पक्ष भी समाप्त हो जाता है।

ध्वनिके प्रभेद अत्यन्त प्रसिद्ध हैं। उनके अनुकूल गुण, अलङ्कार और रीतिके विषयमें आनन्दका मत उपस्थित किया जा रहा है। भरत-प्रतिपादित दशगुणोंको माधुर्य, ओज और प्रसादके अन्तर्गत वर्णन करनेका प्राथमिक श्रेय भामहको है। आनन्दवर्धनने उसे स्वीकार किया, किन्तु इन्होंने गुणोंको रसका धर्म माना है। यतः रसोंके प्रकाशक शब्द और अर्थ हैं अतः उनमें भी गुणोंका औपचारिक व्यवहार होता है। वस्तुतः नवरसोंकी चर्वणामें सहृदयोंके चित्तकी तीन अवस्थाएँ आती हैं,—द्रुति, विस्तार एवं विकास। इन कार्योंके अनुरूप ही माधुर्य, ओज तथा प्रसाद—इन कारणोंकी कल्पना हुई है। "अन्य रसोंकी अपेक्षा शृङ्गारमें माधुर्य गुण परम प्रह्लादका हेतु है।" "विप्रलम्भ एवं करुणमें उत्तरोत्तर माधुर्यका प्रकर्ष बढ़ता जाता है, क्योंकि मनकी आर्द्रता क्रमशः प्रवृद्ध होती रहती है। माधुर्य गुण मधुर शब्द तथा मधुर अर्थमें उपचरित होता है।" काव्यवर्ती रौद्रादिक रस दीप्ति=विस्तारसे लक्षित होते हैं। उनकी अभिव्यक्तिके हेतुभूत शब्दार्थोंका आश्रयण करके ओज गुणकी व्यवस्था है। जब ओजका प्रकाशक शब्द होता है तब उसमें कठोरवर्ण एवं दीर्घ सामासिक रचना व्यवहृत होती है। परन्तु जब ओजका प्रकाशक अर्थ होता है तो उसमें उक्त प्रकारकी पदावली अपेक्षित नहीं रहती।

काव्यके रसोंका सहृदयोंमें सम्यगर्पकत्व प्रसाद गुण कहलाताहै। यह सर्वत्र प्रयोज्य है। इसके व्यञ्जक शब्द और अर्थ निर्मल एवं स्पष्ट होते हैं।

आनन्दवर्धनको ध्वनिकाव्यमें वही अलङ्कार अभिमत है जिसका उपनिबन्ध रसानुगुण हो सके। उसे "अपृथग्यत्ननिर्वर्त्य" होना चाहिये। इसीसे शक्तिसम्पन्न कविके लिए भी सुकुमार रसोंमें यमकादिका निबन्धन निषिद्ध है। अलङ्कारोंको अलङ्कार रहना ही शोभा देता है। अतः आनन्दवर्धनका निष्कर्ष है कि अलङ्कारकी विवक्षा अङ्गरूपमें हो, अङ्गीरूपमें नहीं। अवसरकी अनुकूलता और प्रतिकूलताके अनुसार उनका ग्रहण और त्याग होना चाहिये। रूपकादि अलङ्कारोंके (परम्परित आदिके रूपमें) निर्वाह की इच्छाका अभाव तथा निर्वाह हो जानेपर यह प्रत्यवेक्षण कि अङ्गरूपता कहीं विघटित तो नहीं हुई, अत्यावश्यक है। अतः आचार्यके अनुसार गुण और अलङ्कारोंका भेद यह है कि गुण रसादि अङ्गी अर्थोंका, शौर्यादिके समान, अवलम्बन करते हैं तथा अलङ्कार वाच्यवाचक अङ्गका कटकादिवत् आश्रय लेते हैं[1]।

रीतिको ध्वनिकारने सङ्घटना=सम्यक् घटना कहा है। यह कथन 'विशिष्टा पदरचना रीतिः'का पिण्डीभूतार्थ है। सबसे प्रथम ध्वनिकारने ही रीतिका रससे घनिष्ठ सम्बन्ध जोड़ा। यद्यपि रीति-तत्त्ववालोंने इस तत्त्वका उन्मेष किया था, तथापि वे विवेचनमें अशक्त सिद्ध हुए[2]। आनन्दवर्धनका कहना है कि सङ्घटना माधुर्य आदि गुणोंका आश्रय लेकर खड़ी रहती है तथा रसोंकी अभिव्यक्ति करती है[3]। सङ्घटना और गुणोंके पारस्परिक सम्बन्धको लेकर

---

१. तमर्थमवलम्बन्ते येऽङ्गिनं ते गुणाः स्मृताः।
अङ्गाश्रितास्त्वलङ्कारा: मन्तव्या कटकादिवत्॥

ध्वन्यालोक २,६

२. अस्फुटस्फुरितं काव्यतत्त्वमेतद् यथोदितम्।
अशक्नुवद्भिर्व्याकर्तुं रीतयः सम्प्रवर्तिताः॥

ध्वन्यालोक ३,५७

३. गुणानाश्रित्यतिष्ठन्ती माधुर्यादीन् व्यनक्ति सा।
रसान्·································॥

ध्वन्यालोक ३,६

तीन पक्ष हो सकते हैं:—१. सङ्घटना और गुणोंकी एकता, २. सङ्घटनापर आश्रित गुण तथा ३. गुणों पर आश्रित सङ्घटना। इनमेंसे प्रथम दो पक्ष इस-लिए अनुपयुक्त है क्योंकि ऐसा स्वीकार करनेपर गुणोंकी सङ्ख्या अनियत हो जायगी। पर गुणनियत सङ्ख्यावाले हैं और उनका रसवृत्तित्व बताया ही जा चुका है। किन्तु सङ्घटना नियमित नहीं है। सूरदासने "आजु जौ हरिहि न शस्त्र गहाऊँ" में कोमल एवं असमस्त पदावलीका ही व्यवहार किया है। अतः सङ्घटनाका आधार गुणोंको ही मानना उचित है।

इस प्रकार आनन्दवर्धनाचार्यने काव्यके स्वरूपको यथावत् उद्भूत करके सभी उपकरणोंका यथोचित स्थान बतानेका कार्य आजसे एक सहस्र वर्ष पूर्व सम्पन्न किया था।

आनन्दवर्धनाचार्यके अनन्तर अभिनवगुप्तपादाचार्यका समय दशम शतक-के उत्तरार्धमें माना जाता है। ये ध्वनि-सम्प्रदायके प्रबल संस्थापक थे। इन्होंने ध्वन्यालोकपर लोचन और नाट्यशास्त्र पर अभिनवभारती नामके भाष्यग्रन्थ लिखे। पर इनमें ग्रन्थकारकी मौलिकता सर्वत्र दिखाई पड़ती है। वस्तुतः यदि ये भाष्य न होते तो आज उक्त ग्रन्थोंका अर्थ हमें यथावत् नहीं लग सकता था। पहले भी चन्द्रिका आदि टीकाएं ध्वन्यालोकपर थीं, किन्तु उनसे ध्वनितत्त्वका अवगम ठीक-ठीक नहीं हो पाता था। इसीसे लोचनकार-ने स्थान-स्थानपर इसका निर्देश किया है। ध्वनिविरोधियोंमें भट्टनायक हो चुके थे। अतः उनका एवं उनके ग्रन्थ हृदयदर्पणका उल्लेख लोचनमें मिलता है। उनके विचारोंकी समीक्षा भी की गयी है और ध्वनिका स्थापन दृढ़मूल सिद्ध किया गया है। रसके विषयमें भट्टनायक भावकत्ववादी थे। लोचनकारने उनके मतका खण्डन करके 'व्यक्तिवाद'की स्थापना की।

दशम शतकके ही उत्तरार्धमें 'दशरूपक'कार धनञ्जय हुए। उन्होंने तथा दशरूपकके वृत्तिकार इनके भाई धनिकने भी व्यञ्जनाका खण्डन करके भावकत्ववादसे[1] मिलती-जुलती बात कही। इनका विचार था कि तात्पर्यवृत्ति

१. **न रसादीनां काव्येन सह व्यङ्ग्यव्यञ्जकभावः, किं तर्हि भाव्यभावक-सम्बन्धः, काव्यं हि भावकं भाव्या रसादयः, ते हि स्वतो भवन्त एव**

कोई तुली हुई वस्तु नहीं है जो निकालनेसे घट जायगी[1]।" ये तात्पर्यको 'यावत् कार्यप्रसारी' मानते थे। अतः इनके मतानुसार तात्पर्यसे ही वाक्यार्थका ज्ञान एवं व्यङ्ग्यार्थका भान दोनों हो सकते थे। व्यञ्जनाको अतिरिक्त शक्ति मानने-की कोई आवश्यकता न थी। परन्तु यह मत टिका नहीं। परवर्ती आलङ्का-रिकोंने इनका भयङ्कर खण्डन किया है। अभिनवगुप्ताचार्य तो यह पहले ही कह गये थे कि जो ध्वनिव्याख्याता ध्वनिको तात्पर्यशक्ति या विवक्षासूचकत्व कहते थे वह हमको नहीं रुचता—"भिन्नरुचिर्हि लोकः[2]।

एकादश शतकके आरम्भमें दो अतिप्रबल ध्वनिविरोधी आचार्योंका उद्भव हुआ—१.राजानक कुन्तक एवं २. महिमभट्ट। इनमें भी राजानक कुन्तक पूर्व-वर्ती हैं और महिमभट्ट परवर्ती। दोनोंके आरम्भमें आनन्दवर्धनाचार्य हो चुके थे और दोनोंके अन्तमें मम्मटाचार्य हुए। उक्त दोनों ध्वनिविरोधियोंने खण्डन-के लिए अलग-अलग मार्ग ग्रहण किये। कुन्तकने वक्रोक्तिको काव्यजीवित-रूपमें प्रतिष्ठित करके ध्वनिके अनेक प्रकारोंको उसमें समाविष्ट किया और यह भार विद्वानों पर छोड़ दिया कि वे उसका ग्रहण या त्याग करें। फलस्वरूप यद्यपि वक्रोक्ति-सम्प्रदाय गृहीत नहीं हुआ तथापि उसके अनेक वक्रता-प्रकारों-को परवर्ती ध्वनिमार्गके अनुयायियोंने ग्रहण कर लिया। महिमभट्टने ध्वनिखण्डन-के लिए सीधा रास्ता पकड़ा। ध्वनिके लक्षणमें मुख्य-मुख्य दस दोष दिखाये।

भावकेषु विशिटविभावादिमत्ता काव्येन भाव्यन्ते (पृ० १५८ दश-रूपक)। अतएव डा० श्यामसुन्दरदासने साहित्यालोचन (पृ०२७५ छठां संस्करण) में जो इनको अभिनवगुप्तका अनुयायी बताया है वह ठीक नहीं।

१. एतावत्येव विश्रान्तिः तात्पर्यस्येति किं कृतम्।
यावत्कार्यप्रसारित्वात्तात्पर्यं न तुलाधृतम्॥

काव्यनिर्णयमें लिखा गया और दशरूपक पृ० १५७ पर उदाहृत।

२. यस्तु ध्वनिव्याख्यानोद्यतस्तात्पर्यशक्तिमेव विवक्षासूचकत्वमेव वा ध्वननमवोचत, स नास्माकं हृदयमावर्जयति, यदाहुः भिन्नरुचिर्हि लोक इति······················लोचन पृ० सं० ७०।

ध्वनिभेदों को—ध्वनि, गुणीभूत और चित्रको असङ्गत सिद्ध किया क्योंकि उपाय या साधनकी अपेक्षा उपेय या साध्य प्रधान ही होता है। व्यङ्ग्य रस जिसे वे अनुमेय कहते हैं, साध्य है। अतः वही सर्वत्र प्रधान रहेगा। उन्होंने ध्वनिके अनेक उदाहरणोंको अनुमानके अन्तर्गत सिद्ध किया और कुछको ध्वनि अर्थात् अनुमित काव्य माना ही नहीं। सम्प्रति, महिमभट्टकी अनुमान-प्रक्रिया-को स्पष्ट किया जाता है और कुन्तकका विवरण अगले अध्यायोंमें दिया जायगा।

महिमभट्टके ग्रन्थ व्यक्तिविवेक (व्यक्ति=अभिव्यक्ति=व्यञ्जनाका विवेक=ज्ञान) में तीन उन्मेष हैं। प्रथममें ध्वनिका अनुमानमें अन्तर्भाव, द्वितीयमें अन्तरङ्ग रस-दोषोंका और बहिरङ्ग-शब्दार्थ-दोषोंका निरूपण तथा तृतीयमें ध्वनिके उदाहरणोंकी समीक्षा की गयी है। भट्टजीका सिद्धान्त है कि ध्वनिका विशाल भवन जिस भित्तिपर निर्मित हुआ है वह अनुमानप्रकार ही है, कोई स्वतन्त्र पदार्थ नहीं। अनुमानके अन्दर ही ध्वनि आ जाती है क्योंकि अनुमान महाविषयक है। वस्तुतः वाच्य और व्यङ्ग्यमें व्यङ्ग्यव्यञ्जक-भाव नहीं, प्रत्युत गम्यगमक या साध्यसाधनभाव मानना चाहिये, क्योंकि व्यङ्ग्यार्थ वाच्यार्थसे कोई असम्बद्ध पदार्थ नहीं है। यदि ऐसा माना जाय तो किसी भी वाच्यसे कोई भी व्यङ्ग्य निकलने लगेगा, अतिव्याप्ति हो जायगी। अतः बोधक अर्थ लिङ्ग, साधन है और बोध्य अर्थ लिङ्गी, साध्य है। बोध्य अर्थ तीन प्रकारके हो सकते हैं—रसरूप, अलङ्काररूप एवं वस्तुरूप। इनमें विभाव, अनुभाव और सञ्चारीसे जो रसकी प्रतीति होती है वह भी अनुमानमें ही अन्तर्भूत है, क्योंकि विभावादिकोंकी प्रतीति रसप्रतीतिका साधन है। वे विभावादिरत्यादि-भावोंके कारण, कार्य तथा सहकारी हैं। शकुन्तलादि आलम्बन विभाव, उपवन-चन्द्रिकादि उद्दीपन विभाव कारण हैं। भ्रू-विक्षेपादि कार्य एवं लज्जा-हास आदि उसके सहकारी समझे जाते हैं। ये ही पूर्ववत्, शेषवत्, सामान्यतो-दृष्ट अनुमानके द्वारा रत्यादिको अनुमित कराते हैं। जैसे "यह शकुन्तला दुष्यन्तविषयक रतिमती है, क्योंकि विलक्षण भ्रू-विक्षेपादि दिखाई पड़ते हैं। जो रतिमती नहीं है उसमें ऐसे अनुभाव नहीं दिखाई पड़ते, जैसे अनुसूया।" इस प्रकार रतिके अनुमित होनेपर वह आस्वाद-पदवीको पहुँचता है और रस

कहलाता है। कार्य-कारण भाव होनेके कारण ही यह 'अक्रमव्यङ्ग्य' नहीं कहा जाता अपितु असंलक्ष्यक्रम कहा जाता है। वस्तु और अलङ्कारके विषयमें भी यही प्रक्रिया चलती है। केवल आस्वादका प्रश्न वहाँ नहीं उठता। अतः उन्हें 'संलक्ष्यक्रम' कहते हैं।

वस्तुतः महिमभट्टके मनका पिण्डीभूतार्थ यह है कि शब्दमें केवल अभिधा शक्ति रहती है। जिस वस्तुमें कई शक्तियाँ होती हैं उस वस्तुमें उन शक्तियोंका एक साथ प्रकाशन भी देखा जाता है, जैसे अग्निमें दाहकत्व, पाचकत्व और प्रकाशकत्व धर्म एक साथ देखे जाते हैं। उनका व्यापर भी एक साथ होता है। यदि शब्दमें भी अन्य शक्तियाँ होतीं तो अभिधाके साथ-साथ उनका भी व्यापार देखा जाता और व्यञ्जनातक पहुँचनेका जो क्रम माना जाता है उसके माननेकी कोई आवश्यकता न पड़ती। रही अभिधेयसे अन्यार्थकी प्रतीति, तो उसके विषयमें वे अर्थमें हेतुता मानते हैं। इस अभिधेयार्थसे प्रतीयमानार्थमें व्यङ्ग्यव्यञ्जकभाव-सम्बन्ध न रहकर गम्यगमकभाव-सम्बन्ध होता है [1]।

श्रीशंकुकके अनुयायी महिमभट्टके पश्चात् एकादश शतकके उत्तरार्धमें 'ध्वनिप्रस्थापनपरमाचार्य' श्रीमम्मटका समय आता है। इन्होंने काव्यप्रकाशमें अत्यन्त प्रौढ़ताके साथ काव्यके स्वरूप, ध्वनि, गुणीभूतव्यङ्ग्य, चित्र, दोष, गुण, अलङ्कार आदिका विवेचन किया है। शब्दशक्ति-प्रकरणमें और ध्वनि-विरोधियोंके खण्डनमें इन्होंने अद्भुत् चमत्कार दिखाया है। यह इन्हींकी विशेषता है कि महिमभट्ट जैसे विरोधियोंका मुँहतोड़ उत्तर देकर ध्वनिका मार्ग प्रशस्त किया। सर्वत्र सूत्रात्मक शैली होनेके कारण ग्रन्थ बड़ा दुर्बोध हो गया है। पचीसों टीकाओंके रहते हुए भी यह आज वैसा ही दुर्गम बना हुआ है। इसपर टीका लिखना प्राचीन समयमें पाण्डित्यका निकष समझा जाता था।

मम्मटके ही समकालिक क्षेमेन्द्र नामक आलङ्कारिक हुए हैं। इनकी

---

१. शब्दस्यैकाभिधाशक्तिरर्थस्यैकैव लिङ्गिता।
न व्यञ्जकत्वमनयोः समस्तीत्युपपादितम्॥
अलङ्कारास्त्वलङ्काराः गुणा एव गुणा सदा।

व्यक्तिविवेक १,२

मौलिक कृति है,—"औचित्यविचारचर्चा"। इनका विचार है कि अलङ्कार अलङ्कार हैं और गुण सदा गुण हैं। किन्तु रस-सिद्ध काव्यका स्थिर जीवित औचित्य ही है [1]। क्षेमेन्द्रके शब्दोंमें जो वस्तु जिसके अनुरूप होती है उसीको आचार्य लोग उचित कहते हैं और उचितका ही भाव औचित्य कहलाता है[2]। उचित स्थानपर विन्यस्त होनेके कारण ही अलङ्कार अलङ्कार कहे जाते हैं। एवं औचित्यका अनुसरण करनेके कारण ही गुण गुण होते हैं[3]। अतः औचित्य ही काव्यका जीवितभूत है,—यह सम्प्रदाय इन्होंने स्थापित किया। इसका सूत्रपात हमें भरतके 'लोकप्रमाण्य' में मिलता है। भामहके 'अनौचित्य' और दण्डीके 'दोषपरिहार'के प्रकरणमें इसका विकास दिखाई पड़ता है। फिर आनन्दवर्धनने तो औचित्यको बड़ा महत्त्व दिया। उन्होंने अलङ्कार, गुण, रीति, वृत्ति आदि सबमें औचित्यकी सीमा बाँधी है। उनका कहना है कि "औचित्यके अतिरिक्त रसभङ्गका कोई कारण ही नहीं है और औचित्य-पूर्ण उपनिबन्ध ही रसकी परा उपनिषत् है[4]।" आनन्दके इसी मूलका विकास क्षेमेन्द्रने अपने ग्रन्थमें किया है। सम्प्रदायके अतिरिक्त इसे काव्यका परम प्रयोजक ही मानना उचित है। इसीसे औचित्यके बृहद्वृत्तके अन्तर्गत शीर्षस्थानीय विन्दु रस है और उसकी अभिव्यक्ति या अनुमितिके लिए ध्वनि अथवा अनुमान साधन

---

१. औचित्यं रससिद्धस्य स्थिरं काव्यस्य जीवितम्।
औचित्यविचारचर्चा ५

२. उचितं प्राहुराचार्याः सदृशं किल यस्य यत्।
उचितस्य च यो भावस्तदौचित्यं प्रचक्षते॥
औचित्यविचारचर्चा ७

३. उचितस्थानविन्यासादलङ्कृतिरलङ्कृतिः।
औचित्यादच्युता नित्यं भवन्त्येव गुणाः गुणाः॥
औचित्यविचारचर्चा ६

४. अनौचित्याद् ऋते नान्यद्रसभङ्गस्य कारणम्।
औचित्योपनिबन्धस्तु रसस्योपनिषत्परा॥
ध्वन्यालोक पृ० ३३०

है। बृहद्वृत्त लघुवृत्तकाव्यके बाह्य उपकरण तथा स्वरूपका विवेचक है। लघुवृत्तकी परिधि बृहद्वृत्तको स्पर्श करनेवाली=वक्रोक्ति है। उसके भीतरके त्रिकोणका ऊर्ध्व बिन्दु रीति है और निम्न बिन्दु हैं—गुण एवं अलङ्कार। रीति, गुण तथा अलङ्कारका, जो काव्यके बाह्य उपकरण है, वक्रोक्तिपर आश्रित रहना सर्वथा समीचीन है। इस प्रकार साहित्यके सर्व. सम्प्रदायोंका पारस्परिक सम्बन्ध स्फुट हो जाता है[1]।

क्षेमेन्द्रके अनन्तर विशेष उल्लेखनीय दो आचार्य है,—विश्वनाथ महापात्र और पण्डितराज जगन्नाथ। इनके प्रख्यात् ग्रन्थ हैं,—'साहित्यदर्पण' एवं 'रसगङ्गाधर।' ये सभी ध्वनि-मार्गके अनुयायी हैं। काव्यके लक्षण, भेद और रसनिष्पत्ति आदिके विषयमें इनमें कहीं-कहीं विशेषताएँ मिलती हैं, जिनके निदर्शनका यह स्थान नहीं है। केवल, महिमभट्टके विचारोंका इन लोगोंने किस प्रकार खण्डन किया है, वही दिखाकर यह प्रकरण समाप्त किया जायगा।

सर्वप्रथम मम्मटने महिमभट्टका खण्डन किया है। फिर अलङ्कारसर्वस्व-कारने उसे दुहराया। अनन्तर १४ वें शतकमें साहित्यदर्पणकारने इसकी आवृत्ति की। सभी लोगोंके खण्डनका प्रकार यह है—"अनुमान अर्थात् व्याप्तिविशिष्टपक्षधर्मताज्ञानसे रसादिरूप व्यङ्ग्य अर्थोंका बोध नहीं हो सकता, क्योंकि अनुमानमें सत् हेतुका होना आवश्यक है। किन्तु व्यंग्यार्थको अनुमेयार्थ सिद्ध करनेके लिए जो हेतु दिये जाते है वे सब हेत्वाभास होते हैं।" पण्डित रामचन्द्र शुक्लने 'रसमीमांसा'में विचार करते हुए इसे 'व्यावहारिक अनुमान' माना है[2]। परन्तु व्यावहारिक विशेषणसे वे जिस पदार्थका बोध कराना चाहते हैं वह व्यञ्जनासे ही गतार्थ हो जाता है[3]।

---

१. चित्रके लिए द्रष्टव्य परिशिष्ट क्रमसंख्या —५

२. द्रष्टव्य पृष्ठ संख्या ४१३।

३. ध्यान देने योग्य बात यह है कि शुक्लजी ही व्यञ्जनाको शास्त्रीय अनुमानसे पृथक् नहीं बतलाते, अपि तु रस-प्रक्रियापर विचार करते हुए अनुमितवादी श्री शङ्कुक भी कह चुके हैं—'अन्यानुमीयमानविलक्षणः' : इसी कारण श्री शङ्कुकने विभावादिकोंकी प्रति-

वक्रोक्तिः काव्यजीवितम्

आचार्य कुन्तकके पूर्व भारतीय साहित्यशास्त्रके क्षेत्रमें रस, अलङ्कार, गुण और ध्वनि-सम्प्रदाय प्रतिष्ठित हो चुके थे। इनमेंसे ध्वनि-सम्प्रदाय-वालोंने काव्यके पूर्वोक्त तीनों तत्त्वोंका सुन्दर समन्वय सङ्घटित कर दिया था। ध्वनिकी स्थापना दृढ़ भित्तिपर हो जानेके कारण आगेके किसी भी नव समीक्षकके लिए यह आवश्यक था कि या तो वह ध्वनिके दोषोंका सुस्पष्ट उद्घाटन करके अपनी नवीन स्थापनाको अपेक्षाकृत अधिक प्रौढ़ प्रमाणित करे अथवा किसी ऐसी चमत्कारक आलोचन-पद्धतिको जन्म दे जो अपनी साहित्यिक विदग्धता एवं तलस्पर्शितामें ध्वनिकी अपेक्षा श्रेष्ठ सिद्ध हो। बताया जा चुका है कि महिमभट्टने पहले मार्गका अवलम्बन किया और कुन्तकने दूसरे मार्गका आश्रयण किया। इसी द्वितीय मार्गके विवरणमें कुन्तककी महत्ता सुरक्षित है।

भारतीय दृष्टिसे काव्यकी भावात्मक या रसात्मक सत्ता मानी जाती है। प्रारम्भमें यह सिद्धान्त केवल दृश्य काव्यशास्त्रके विषयमें निरूपित हुआ था, किन्तु अवान्तरकालमें श्रव्य काव्यशास्त्रके विवेचनमें किस प्रकार इसने अपनी स्थिति दृढ़ की इसका विमर्श पूर्वाध्यायमें किया जा चुका है। इस दृष्टिसे काव्यका चरम लक्ष्य श्रोताओं या सामाजिकोंमें अलौकिक आनन्दका उद्रेक करना है। यह उद्रिक्तावस्था या रसकी चर्वणा तभी सिद्ध हो सकती है जब शब्द और अर्थका परस्परोत्कर्षक निबन्धन हो। शब्द-चमत्कार अर्थ-चमत्कारसे बढ़कर हो और अर्थ-वैचित्र्य शब्द-वैचित्र्यको मात करनेवाला हो। शब्दों और अर्थोंके पारस्परिक होड़की यह स्थिति सामान्य या प्रसिद्ध प्रयोगोंसे नहीं लायी जा सकती। जहाँ लायी भी जाती है वहाँ क्रिया-कल्पकी दूसरी विचित्रताओंका योग अपेक्षित रहता है। अतः प्रतिभावान् कवि 'नवशब्दार्थ-बन्धुर' काव्यकी सृष्टि करते हैं। इतना ही नहीं, मानवमनकी गूढ़ अन्तर्दशाओंऔर विविध भावना-भेदोंकी अभिव्यक्तिके लिए भी चलते प्रयोग सक्षम

पत्तिके लिए सम्यक्, मिथ्या, संशय और सादृश्य—इन चार प्रकारके ज्ञानकी कोटियोंसे अतिरिक्त 'चित्रतुरगन्याय'की कल्पना की थी।

नहीं होते। उनसे साधारण व्यवहार चल सकता है और चलता भी है। किन्तु निगूढ़ अन्तर्वृत्तियोंकी विवृतिमें असाधारण भङ्गी-विचित्रता अपेक्षित होती है। रस-सिद्ध कवीश्वरोंका चिरपरिचायक मार्ग भी यही है। 'उज्ज्वल' शृङ्गारके 'नीलमणि' श्री घनानन्दकी रचनाओंमें यही वैचित्र्य बहुलतासे उपलब्ध होता है, होना भी चाहिये। पुराने प्रयोगोंकी पुनरावृत्तिसे कवि-पद-की प्राप्त्याशा दुराशा मात्र है। अस्तु।

वक्रोक्तिका स्वरूप

काव्यजीवित 'वक्रोक्ति'का तात्पर्य है—विलक्षण या लोकातिक्रान्त कथन। कारण यह है कि उक्तियाँ तो सामान्य व्यवहारमें भी काममें लायी जाती हैं, पर उनसे रस-चर्वणाका उन्मीलन नहीं देखा जाता। यह तो कवि या काव्य-का लोकोत्तर वर्णन है जो सामाजिकोंमें रस-चर्वणाका उन्मेष करता है। वस्तुतः वक्रोक्तिमें दो पद हैं,—वक्र उक्ति। वक्रका अर्थ है,—कुटिल, बाँका या विलक्षण। उक्ति कथनका पर्याय है। अतः वक्रोक्तिका अर्थ हुआ बाँकपनसे भरा हुआ कथन-प्रकार। कुन्तकने इसकी व्याख्यामें 'वैदग्ध्यभङ्गीभणिति' पद-का प्रयोग किया है। कहनेका तात्पर्य यह कि कविकर्मकी कुशलतासे उत्पन्न चमत्कारका आश्रयण करनेवाली उक्तिका नाम ही वक्रोक्ति है। यही असा-मान्य कथन काव्यका विधायक तत्त्व–अवयवी है। अन्य सहकारी उपादान उसके अवयव है। बिना वक्रता या बाँकपनके काव्य ही क्या? यह वक्रता शब्दरूपिणी भी हो सकती है और अर्थरूपिणी भी। कुन्तक उभयरूपिणी वक्रतामें काव्य मानते हैं।

हारिक विचारों तथा भावोंकी अभिव्यक्तिके लिए मनुष्य जिस प्रसिद्ध या सरल मार्गका अवलम्बन करता है उसका अतिक्रमण करके प्रातिभ-ज्ञान-सम्पन्न कवि अपने पद-पदार्थकी संयोजनामें विलक्षणता उत्पन्न कर देता है, अभिव्यक्तिकी नित्य नूतन प्रणालियोंका सर्जन करता है। उदाहरणार्थ सामान्य व्यक्तिका प्रश्न होगा,—'आप कहाँ तक जायेंगे' ? पर दमयन्ती दौत्यकर्मके लिए उपस्थित राजा नलसे पूछती है "महाराज निवेदन कीजिए, हमारा मन यह जानना चाहता है कि शिरीष-कोषकी मृदुताको भी मलिन बनानेवाले आपके ये चरण कहाँतक चलनेका प्रयास करना चाहते हैं ?" साधारण व्यक्तिकी उक्ति होगी। 'आप कहाँ से आ रहे हैं' ? परन्तु शकुन्तलाकी अनन्य सखी अनुसूया राजा दुष्यन्तसे पूछती है कि "किस देशकी प्रजाको आपने अपने विरहसे उत्सुक बनाया है ?"

वक्रोक्तिका व्यावहारिक रूप प्रकट करनेके लिए कुन्तकने अनेक उदाहरण उपस्थित किये हैं। कालिदासका प्रस्तुत मन्दाक्रान्ता विवेचनीय है,—

भर्तुर्मित्रं प्रियमविधवे विद्धि मामम्बुवाहं,
तत्सन्देशैर्हृदयनिहितैरागतं त्वत्समीपम् ।
यो वृन्दानि त्वरयति पथि श्राम्यतां प्रोषितानां,
मन्द्रस्निग्धैर्ध्वनिभिरबलावेणिमोक्षोत्सुकानि ॥

मेघदूत ३६

ऐ सुहागिन ! मुझे समझ तू अपने पतिका मित्र विशेष ।
तेरे पास हृदयमें रखकर लाया हूँ उसका सन्देश ।
मेरा नाम मेघ है, मैं ही मधुर धीर गर्जन विस्तार—
विरहिनियोंकी लटें खुलाने पथिकोंको लाता आगार ॥

पण्डित केशवप्रसाद मिश्र

इस पद्यमें 'अविधवे' सम्बोधन आश्वासनदायक होनेके कारण चमत्कारक है। इसके श्रवण मात्रसे यक्षपत्नी सन्तुष्ट हो जाती है कि उसका प्रियतम अभी जीवित है। 'मैं तुम्हारे पतिका मित्र हूँ', यह कथन मेघकी उपादेयताका सूचक है। सामान्य मित्र नहीं प्रत्युत 'प्रिय' मित्र हूँ, इससे व्यक्त

होता है कि यक्षने उससे अपनी विस्रम्भ कथाओंको कह रखा है। इस कथनसे आश्वस्त हुई यक्षपत्नी वार्ताश्रवणकी ओर उन्मुख होती है और मेघ प्रकृतकी प्रस्तावना करता हुआ कहता है कि इसीलिए मैं तुम्हारे पास आया हूँ। 'हृदय-निहित' पदके द्वारा व्यक्त होता है कि मैं इस वार्ताको अत्यन्त अवधान-पूर्वक सँजोकर लाया हूँ। प्रश्न हो सकता है कि कोई व्यवहार-बुद्धिशाली व्यक्ति दूत बनाकर क्यों नहीं भेजा गया? धूम, ज्योति, सलिल और मरुतके सन्निपातभूत मेघमें ही ऐसी क्या विशेषता थी? इसका उत्तर 'अम्बुवाह' पद दे रहा है। वह स्वभावसे ही वाहक ठहरा। अतएव सन्देशहारक होनेमें उप-युक्तता ही है। अगले कथनसे मेघकी सहृदयता एवं परोपकारिता सूचित होती है। मेघ अपने मन्द्र एवं स्निग्ध ध्वनिसे त्वरा करनेमें असमर्थ (श्राम्यतां) परदेशियोंको त्वरायुक्त बना देता है। वे परदेशी एक-दो नहीं हैं। उनका एक-दो समूह भी नहीं है, प्रत्युत उनके अनेक समूह हैं जिनको मेघ एक साथ त्वरासम्पन्न बनाता है। वे सबके सब अपनी-अपनी अबला प्रियाओंके वेणी-बन्धनको उन्मुक्त करनेके लिए व्यग्र हैं। 'वृन्दानि' पदसे मेघका अभ्यास व्यक्त होता है। 'मन्द्रस्निग्ध' ध्वनि विदग्ध दूतकी प्ररोचनायुक्त बातोंका द्योतक है। 'अबला' पदके उपन्याससे 'प्रेयसीविरहवैधुर्यं' व्यङ्ग्य है। 'पथि' पदकी व्यञ्जना और भी मार्मिक है। उससे व्यक्त होता है कि जब राहगीरोंके प्रति मेरी इतनी सहानुभूतिमयता है तब अपने प्रिय मित्रके वियोगमें मैं क्या नहीं कर सकता हूँ? इस प्रकार पदार्थोंका यह परिस्पन्द ही समग्र मेघदूतका प्राण है जो सहृदयोंका आवर्जक है।

निम्नलिखित पद्य प्रत्युदाहरण है,—

सद्यः पुरी परिसरेऽपि शिरीषमृद्वी, सीताजवात्त्रिचतुराणि पदानि गत्वा।
गन्तव्यमद्य कियदित्यसकृद्ब्रुवाणा, रामाश्रुणः कृतवती प्रथमावतारम्॥

बालरामायण ६,२४

यह वनगमनका प्रसङ्ग है। शिरीष-कोमल अङ्गोंवाली सीताजी रामचन्द्र-के साथ शीघ्र ही अयोध्यापुरीके परिसरमें निकलीं। किन्तु तीन-चार डग शीघ्रतासे ज्यों-त्यों देकर 'आज कितनी दूरतक चलना है' यह बार-बार पूछने

लगीं। इस प्रकार उन्होंने अपने प्रश्नोंसे सर्वप्रथम श्रीरामचन्द्रजी की आँखोंसे अश्रुओंका अवतरण कराया।

उक्त वसन्ततिलकाके विषयमें कुन्तककी समीक्षा है कि 'कहाँतक चलना है' यह बार-बार पूछना न तो सीताकी स्वाभाविक महत्ताका उन्मेष करता है और न रसपरिपोषका अङ्ग ही है। कारण यह है कि शिरीष-कोमल होते हुए भी सीताजीने जिस सहज धीरताके साथ वनगमन अङ्गीकार किया था वही धीरता क्या कभी भी इस प्रकारके शब्दोंको बार-बार उच्चरित होने देगी? इनके अतिरिक्त बार-बारके अभिधानसे रामाश्रुओंके प्रथमावतारको सङ्गति नहीं लगती। एक बारके कथनसे भी सहृदयशिरोमणि रामकी आँखोंका अश्रुप्लुत हो जाना स्वाभाविक है। अतः कविने असावधानीसे अत्यन्त सुन्दर प्रसङ्गको भी कदर्थित कर दिया। अतएव कुन्तक 'असकृत्'के स्थानपर 'अवश' पाठ रखना चाहते हैं। किन्तु हिन्दीमें महाकवि तुलसीदासने इसी प्रसङ्गको कविता-वलीमें अत्यन्त मनोहारी रीतिसे उपनिबद्ध किया है। इसमें उक्त प्रकारका कोई भी स्खलन नहीं,—

पुर ते निकसी रघुबीरबधू धरि धीर दये मग में डग द्वै।
झलकीं भरिभाल कनी जलकी पुट सूखि गये मधुराधर वै।
फिर बूझति हैं चलनो अब केतिक पर्णकुटी करिहौं कित ह्वै।
तियकी लखि आतुरता पियकी अँखियाँ अतिचारु चलीं चल च्वै॥

उक्त सवैया तुलसीदासकी बेजोड़ रचना है। संस्कृत पद्यमें 'शरीषमृद्वी'के द्वारा 'जवात्'के साहचर्यमें जिस कोमलताकी व्यञ्जना सफल नहीं हो सकी थी वही शालीनशीलता तुलसीके सवैयेमें 'धैर्य पूर्वक दो डगों'के विधानसे सिद्ध हो गयी है। द्वितीय पङ्क्तिके अनुभाव चित्रणसे 'श्रम'की अत्यन्त स्वाभाविक अभिव्यक्ति होती है। अन्तिम दोनों चरणोंसे सीताजीकी धैर्य मिश्रित आतुरता तथा रामचन्द्रजीकी कुसुम-कोमल विवशता टपकी पड़ती है।

वक्रोक्ति-विधानका एक चमत्कार और देखिये—

मुझे फूल मत मारो।
मैं अबला बाला वियोगिनी कुछ तो दया विचारो॥

होकर मधु के मीत मदन, पटु, तुम कटु गरल न गारो।
मुझे विकलता, तुम्हें विफलता, ठहरो, श्रम परिहारो ॥
नहीं भोगिनी यह मैं कोई, जो तुम जाल पसारो।
बल हो तो सिन्दूर विन्दु यह, यह हरनेत्र निहारो ॥
रूप-दर्प कन्दर्प, तुम्हें तो मेरे पति पर वारो।
लो, यह मेरी चरण-धूलि उस रतिके सिरपर धारो ॥

(साकेत, नवमसर्ग)

इस गीतमें वियोगिनी उर्मिला वसन्त ऋतुके आगमनपर अपने कष्टद पदार्थोंको उपालम्भ देती हुई कहती है। यह प्रसिद्ध है कि संयोगकालकी सुखद वस्तुएं भी वियोगकालमें अधिक सन्तापदायक हो जाती हैं क्योंकि वे विरही में बार-बार पूर्वानुभवोंकी स्मृति जगाती हैं। वसन्तमें पुष्पोंकी अधिकता हो जानेके कारण उसे 'कुसुमाकर' कहते हैं। पुष्पोंके परागको लेकर प्रवृत्त होनेवाला पवन भी अधिक उन्मादक हो जाता है। कुसुमाकरकी दुर्दमनीय क्रीड़ाएँ आरम्भ हो जाती हैं। अतः उर्मिला कुसुमशरको ही सम्बोधित करती हुई कहती है कि मुझे फूल मत मारो, क्योंकि लौह-फलक-कृत वेदनासे भी कहीं अधिक कष्ट उसे प्रकृतिके प्राङ्गणमें फैले हुए पुष्पोंको देखकर होता है। सामान्य निवेदनके उपरान्त वह विशेष रूपमें समझाती है कि हे कुसुमशर! तुम धनुर्धारी हो। धनुर्धारी वीर कभी स्त्री (अवला) पर शस्त्र-क्षेप नहीं करते। इस वीर-मर्यादाको तुम भूल रहे हो। खैर, इतना भी हो तब भी कोई बात नहीं। मैं बलहीन (अबला) बाला हूँ। फिर प्रार्थना कर रही हूँ। भला कुछ तो दया धारण करो। तुम मधु (मिष्ट) के मित्र हो, तुम्हें भी मीठे स्वभाववाला होना चाहिये और कहाँ तुम मदन हो, मुझे मत्त बना रहे हो। माधव तुम्हारा मित्र है, उसके साथ एकक्रियाकारिताके सूत्रमें बँधे हुए हो। परम चतुर भी हो, तब तुम्हें अतिकटु विषका वमन करना शोभित नहीं होता। दूसरी बात यह भी है कि तुम्हारे इस उद्यमका कोई फल नहीं हो सकता, क्योंकि मैं विरहिणी हूँ। फलतः हमें विकलता प्राप्त होती है और तुम कृतकार्य नहीं होते। अतः ठहर जाओ, बहुत दिनोंके बाद, प्रायः एक वर्षके

उपरान्त आए हो, थके होगे। अपनी थकावट मिटा लो। फिर भी यदि नहीं मानते तो यह भी गाँठ बाँध लो कि मैं कोई विलासिनी स्त्री नहीं हूँ जिसके सामने तुम्हारा जाल सफल हो जायगा, प्रत्युत मैं विरह-वियोगिनी हूँ। फिर भी यदि मेरा कहना नहीं मानते तो फिर अपनी शक्ति एकत्र कर मेरे भाल पट्टपर स्थित शिवके तीसरे नेत्रके समान, इस सिन्दूर-विन्दु की ओर देखो। एक बार हर-नेत्रकी ओर देखनेसे 'अनङ्ग' हो चुके हो, इसे स्मरण रखना। यदि तुम अपने रूप-गर्वमें फूले नहीं समाते और हमारी ओर 'कन्या वरयते रूपं'को लेकर अग्रसर हो रहे हो तो हे कन्दर्प (किसको दर्पित कर दूँ ? ऐसे स्वभाव-वाले), तुम अपनी रूप-छटा मेरे पतिपर निछावर कर दो—तुम शोभाकी बरा-बरी तो क्या कर सकोगे ? और एक बात यह भी सुनो, यदि तुम्हें अपनी पत्नी रतिका दर्प हो तो मैं कहती हूँ कि मुझ सौभाग्यवतीकी चरण-रज उस अनङ्ग-पतिवालीके सिरपर स्थापित करो। मेरे सौभाग्यकी समता वह कभी भी नहीं कर सकती। इस प्रकार इस गीतके 'फूल','अबला', 'मधु' आदि बहुतसे पद निर्दशित पदार्थोंका परिस्पन्दन करते हैं। सङ्क्षेपमें काव्य-जीवित-भूत वक्रोक्तिका व्यापक स्वरूप यही है।

वक्रोक्ति अलङ्कार

आजकल "वक्रोक्ति"के अभिधानसे कुन्तककी उक्त व्यापक कल्पनाके स्थान-पर एक विशेष प्रकारका अलङ्कार गृहीत होता है। जिस वाग्विकल्पमें एक वक्ताके द्वारा प्रयुक्त उक्ति श्लेष या काकुके बलसे दूसरेके द्वारा अन्य अर्थ-में सङ्क्रमित कर दी जाय, उसे वक्रोक्ति अलङ्कार कहते हैं[1]। इस प्रकार वक्रोक्ति-

---

१ भोजराजने इसे 'सरस्वतीकण्ठाभरण'में 'वाकोवाक्य' कहा है— "उक्तिप्रयुक्तिमद्वाक्यं वाकोवाक्यं विदुर्बुधाः। द्वयोर्वक्त्रोस्तदिच्छन्ति बहूनामपि सङ्गमे ॥" पर प्रदीपकार वक्रोक्तिके लिए वक्ताकी द्वित्व सङ्ख्याको आवश्यक नहीं मानते। उनका कहना है कि दूसरेके द्वारा कही गयी उक्तिको स्वतः अन्यथा योजित कर लेने मात्रसे वक्रोक्तिकी सिद्धि हो जाती है। यहीं यह भी ध्यान देने योग्य है कि दूसरेकी

के दो भेद हैं, श्लेष वक्रोक्ति और काकु वक्रोक्ति। इनमेंसे श्लेष वक्रोक्ति भी पद-भङ्ग श्लेष और अभङ्गपद श्लेषके कारण दो प्रकारकी होती हैं। पदभङ्ग श्लेषकृत वक्रोक्तिका उदाहरण लीजिये—

मान तजो गहि सुमति बर, पुनि-पुनि होत न देह।
मानत जोगी जोगको, हम नहिं करत सनेह॥

इस दोहेमें वक्ता कहता है कि हे वर, सुमति गहि (के) मान तजो, पर श्रोता "मान तजो गहि" शब्दोंको तोड़कर 'मानत जोगहि' समझकर उत्तर देता है।

अभङ्गपद श्लेष द्वारा उत्थापित वक्रोक्तिका स्वरूप यह है—

खोलो जू किवाँर, तुम को हो एती बार,
'हरि' नाम है हमारो, बसो कानन पहार में।
हौं तो प्यारी 'माधव', तो कोकिला के माथे भाग
'मोहन' हौं प्यारी, परो मन्त्र अभिचार में॥
'रागी' हौं रँगीली, तौ जु जाहु काहू दाता पास,
'भोगी' हौं छबीली, जाय बसौ जु पतार में।
'नायक' हौं नागरी तो हाँकौ कहुँ टाँडौ जाय,
हौं तो 'घनश्याम' बरसौ जु काहू खार में॥

इस घनाक्षरीमें राधाकृष्णका परिहास वर्णित है। कृष्णजी अपना जो नाम बतलाते हैं उसीको अन्यथा अर्थमें लेकर राधिकाजी उत्तर देती जाती हैं। अन्यथा अर्थ हैं—हरि=बन्दर, माधव=वैशाख मास, मोहन=सम्मोहन योग, रागी=गायक, भोगी=सर्प, नायक=बञ्जारा, घनश्याम=कृष्णमेघ।

उक्तिको वक्र करनेपर ही वक्रोक्ति होती है। अपनी उक्तिको वक्र करनेपर व्यङ्ग्य होता है, अलङ्कार नहीं। इसीसे "भाषाभूषण" का उदाहरण "रसिक अपूरब हौ पिया, बुरो कहत नहिं कोय" अलङ्कार-की कुक्षिमें नहीं आता। आचार्य केशवकी "कविप्रिया"का वक्रोक्ति-लक्षण भी विलक्षण है और उदाहरण ध्वनिकी ही कोटिमें जा सकते हैं। "अलङ्कारमञ्जूषा"के दृष्टान्त भी प्रायः इसी प्रकारके हैं।

काकु वक्रोक्तिका स्वरूप देखिये—

> क्यों ह्वै रह्यो निरास, कहि-कहि "नहिं हरिहैं बिपति"।
> राखिय दृढ़ बिस्वास, हरि ह्वै नहिं हरिहैं बिपति ?

इस सोरठेमें विपत्तिसे मारे हुए किसी मनुष्यके "नहिं हरिहैं बिपति" इस निषेध-सूचक कथनका किसी भक्तने कण्ठध्वनिकी विशेषतासे 'विपत्ति अवश्य रहेंगे' यह विधि-सूचक अन्यार्थ ग्रहण किया।

वक्रोक्तिके उक्त प्रकारोंकी गणना [illegible]। कारण यह है कि प्रयुक्त पद परिवर्तन-सहिष्णु नहीं है। अन्वय-व्यतिरेकसे शब्दमें ही वक्रोक्तिके रहनेके कारण इसे शब्दालङ्कार माना जाता है। काकुका सम्बन्ध भी शब्दका—ध्वनिका ही विषय है, अर्थका नहीं। वक्रोक्तिको शब्दालङ्कारके रूपमें स्वीकार करनेवाले आद्य आचार्य रुद्रट हैं। वे इसे आद्य शब्दलङ्कार मानते हैं। इन्हींका मत परवर्ती मम्मट आदि आलङ्कारिकोंने स्वीकार किया। यही परम्परा हिन्दी साहित्यमें भी गृहीत हुई। किन्तु हिन्दी साहित्यके कुछ मर्मज्ञोंने वक्रोक्तिको अर्थालङ्कार भी माना है। वक्रोक्तिके ऐसे स्थलोंपर शब्दोंका परिवर्तन कर देनेपर भी अलङ्कारता बनी रहती है। जैसे—

> भिक्षुक गो कित को गिरजे सु तो माँगनको बलि द्वार गयो री।
> नाच नच्यो कित हो भववाम, कलिन्द सुता तट नीके ठयो री।
> भाजि गयो वृषपाल सु जानत, गोधन सङ्ग सदा सुछयो री।
> सागर-सैल-सुतानके आज परस्पर यों परिहास भयो री॥

इस सवैयेमें "भिक्षुक," "नाच नच्यो" और "वृषपाल" शब्द श्लिष्ट हैं जो आरोप-भेदसे महादेव और कृष्णका यथाक्रम अभिधान करते हैं। यदि इन शब्दोंके स्थानपर क्रमशः "मङ्गन", "नृत्यकर्यो" और "पशुपाल" शब्द रख दें तो भी अलङ्कारत्वकी हानि नहीं होती। यहाँ अभङ्ग श्लेषकी स्थिति धर्मिभेदसे है, धर्मभेदसे नहीं। अस्तु;

वक्रोक्तिके इस अलङ्काररूपका प्रचार संस्कृत साहित्यमें ही इतना अधिक हो गया था कि "साहित्यदर्पणकार" को अन्य मतोंके खण्डन करनेमें कुछ शक्ति लगानी पड़ी, पर वक्रोक्ति-जीवितकारके महत्त्वपूर्ण सिद्धान्तको उन्होंने एक

झटकेमें ही उड़ा दिया—वक्रोक्तेः अलङ्काररूपत्वात्। यह ध्यान देने योग्य है कि मम्मटाचार्यने पूर्ववर्ती सभी ध्वनिविरोधी आचार्योंका प्रबल खण्डन किया है, पर उन्होंने वक्रोक्तिका खण्डन करनेके लिए वक्रोक्तिजीवितकारके ही भव्य मार्गका अनुगमन किया। जैसे कुन्तकने काव्यके समस्त उपादानोंको वक्रोक्तिकी सीमामें अन्तर्निविष्ट कर दिखाया और यह बात विद्वानोंपर छोड़ दी कि वे ध्वनि मतको अपनाएँ या वक्रोक्ति मतको स्वीकार करें, वैसे ही मम्मटने स्पष्ट रूपमें ध्वनिका विरोध करनेवालोंको तो मुँहतोड़ उत्तर दिया, पर वक्रोक्तिको सङ्कुचित अर्थमें, अलङ्कार-रूपमें स्वीकार करते हुए उन्होंने भी यह निर्णय सहृदयोंपर छोड़ दिया कि वक्रोक्तिके किस रूपका ग्रहण किया जाय। यह सत्य है कि वक्रोक्तिकी अलङ्कार-कल्पना ही लोगोंको रुचिकर हुई। किया क्या जाय,—"भिन्नरुचिर्हि लोकः"। परन्तु इससे कुन्तकका महत्त्व कम नहीं होता। उन्होंने जिस नवीन मार्गकी उद्भावना की वह अत्यन्त व्यापक एवं तलस्पर्शी है। उसे सामान्य अलङ्कारके रूपमें हँसकर उड़ाया नहीं जा सकता। इसका प्रमाण यह है कि वक्रोक्तिके अनेक प्रकारोंको अवान्तरकालीन ध्वनि-मतानुयायियोंने ध्वनिके आभोगमें समाविष्ट कर लिया। अतएव कुन्तक भामहके अलङ्कार-सम्प्रदायको पुनरुज्जीवित भले ही न कर सके हों, पर उन्होंने साहित्य-संसारको एक विलक्षण समीक्षा-पद्धति अवश्य दी जिसे साहित्यिकोंने विशुद्ध रूपमें न सही, पर भङ्ग्यन्तरसे अवश्य स्वीकार कर लिया। यह कुन्तकके लिए भूषण ही है, दूषण नहीं।

वक्रोक्तिका विकास

वक्रोक्तिकी महत्त्वपूर्ण कल्पना कुन्तकको कहाँ से प्राप्त हुई यह विषय विचारणीय है। ध्यान देनेपर विदित होता है कि कुन्तक अलङ्कार-मार्गके उन्नायक थे। इसीसे उन्होंने आद्य आलङ्कारिक भामहके पदार्थोंको लेकर उनका समुचित उपबृंहण किया है। शदार्थ युगलको काव्य मानना और इन दोनों अलङ्कार्योंके लिए एक सामान्य अलङ्कार—वैदग्ध्यभङ्गीभणितिरूप वक्रोक्तिको स्वीकार करना उक्त कथनके पोषक हैं।[1]

---

१. उभावेतावलङ्कार्यौ तयोः पुनरलङ्कृतिः।

भामहके अनुसार वक्रोक्ति अतिशयोक्तिका पर्याय है। बिना इसकी सहायताके कोई अलङ्कार नहीं बन सकता। अतः उन्होंने कवियोंको वक्रोक्ति-विधानकी प्रेरणा दी है[1]। वस्तुतः वक्रोक्तिकी उद्भावना भामहसे भी पूर्व युगसे सम्बद्ध है। इसका कारण यह है कि जहाँ अन्य अलङ्कारोंका उन्होंने लक्षण किया है वहाँ वक्रोक्तिको, बिना व्याख्या किये हुए ही, ग्रहण कर लिया है। इससे सिद्ध है कि वक्रोक्तिकी धारणा पर्याप्तरूपमें प्रचलित थी। इस वक्रोक्तिको उन्होंने 'वार्ता'=सामान्य कथनके प्रतिकूल बताया है। इसी कारण वे सूक्ष्मादि अलङ्कारोंको अलङ्कार नहीं मानते। वस्तुतः यही वक्रोक्ति कुन्तकके वक्रवाक् कविके लोकातिक्रान्त वचनका मूल है।

आनन्दवर्धनने ध्वन्यालोकमें अलङ्कारोंका विवेचन करते हुए भामहोद्भावित वक्रोक्तिके औचित्यपूर्ण उपनिबन्धका समर्थन किया है। इसका कारण यह है कि सभी महाकवियोंने अपने काव्यकी शोभा बढ़ानेके लिए अतिशयोक्तिका पर्याप्त प्रयोग किया है। फिर ऐसा कोई कारण नहीं है कि वक्रोक्तिके औचित्यपूर्ण निबन्धनसे काव्यके उत्कर्षका साधन न हो। इसीसे वे सभी अलङ्कारोंमें 'अतिशयोक्तिगर्भता' मानते हैं। उनका कहना है कि जिस अलङ्कारके मूलमें अतिशयोक्तिकी स्थिति होती है वह कवि-प्रतिभावशसे अत्यधिक चारु प्रतीत होता है। अतिशयोक्तिहीन अलङ्कार अलङ्कारमात्र हैं। इस प्रकार सब अलङ्कारोंके शरीरको स्वीकार करनेकी योग्यता होनेके कारण अभेदोपचारसे अतिशयोक्ति सर्वालङ्काररूपा है[2]।

आनन्दवर्धनका कहना है कि दूसरे अलङ्कारोंके साथ अतिशयोक्तिकी

वक्रोक्तिरेव वैदग्ध्यभङ्गीभणितिरुच्यते ॥

वक्रोक्तिजीवित १,१०

१. काव्यालङ्कार २,८५।

२. तत्रातिशयोक्तिर्यमलङ्कारमधितिष्ठति कविप्रतिभावशात्तस्य चारुत्वातिशययोगोऽन्यस्य त्वलङ्कारमात्रतैवेति सर्वालङ्कारशरीरस्वीकरणयोग्यत्वेनाभेदोपचारात्सैव सर्वालङ्काररूपा इत्ययमेवार्थोऽवगन्तव्यः।

ध्वन्यालोक पृ० २६७–२६८

सङ्कीर्णता दो प्रकारसे हो सकती है—कहीं वाच्यरूपमें और कहीं व्यङ्ग्यरूपमें। व्यङ्ग्य भी कहीं प्रधान रूपसे और कहीं गौण रूपसे। इनमें वाच्यरूपा अतिशयोक्तिके सङ्कीर्ण होनेसे समग्र अर्थालङ्कारोंकी सृष्टि होती है। द्वितीयावस्था ध्वनिमें अन्तर्भुक्त है और तृतीयावस्थामें गुणीभूत व्यङ्ग्य काव्य आता है[1]। इस प्रकार आनन्दके अनुसार अतिशयोक्ति या वक्रोक्ति काव्यका विशद अभिव्यञ्जक तत्त्व है।

अभिनवगुप्तने लोचनमें वक्रोक्तिके इसी प्रसङ्गको और भी सुस्पष्ट किया। उनका कहना है कि भामहकी अतिशयोक्ति "सर्वालङ्कार-प्रकार"रूप वक्रोक्ति ही है। इसका प्रमाण भामहकी यह कारिका है—"वक्राभिधेयशब्दोक्तिरिष्टावाचां त्वलङ्कृतिः"। वक्रता दो प्रकारकी होती है—शब्दवक्रता तथा अभिधेयवक्रता। वक्रताका अर्थ है—लोकोत्तररूपसे अवस्थिति। यही अलङ्कारकी अलङ्कारता है। लोकोत्तरता ही अतिशयता ठहरी। इसीसे अतिशयोक्ति सर्वालङ्कारसामान्य है। इसी अतिशयोक्तिके कारण सकल जनोंके द्वारा उपभुक्त होनेसे पुराना भी अर्थ विचित्रतासे भासित होने लगता है तथा प्रमदोद्यानादि वस्तुएँ विशेष रूपसे भावितकी जाती हैं, रसमय बनायी जाती हैं[2]।

वक्रोक्तिके इस सङ्क्षिप्त ऐतिहासिक विकाससे सुस्पष्ट है कि अलङ्कारवादियोंके पास यही वह सर्वाधिक व्यापक एवं उपादेय तत्त्व था जिसका सहारा लेकर अलङ्कारमार्गका पुनरुज्जीवन नवीन ढङ्गसे किया जा सकता था। कुन्तकने अपनी पैनी दृष्टिसे इसका अवलोकन किया और उसके प्रस्तारमें प्रवृत्त हो गये। ठीक उसी समय धारानरेश भोजराजने भी वक्रोक्तिके सिद्धान्तको काव्यके अन्तरङ्ग

---

१. **तस्याश्चालङ्कारान्तरसङ्कीर्णत्वं कदाचिद्वाच्यत्वेन कदाचिद्व्यङ्ग्यत्वेन, व्यङ्ग्यत्वमपि कदाचित्प्राधान्येन कदाचिद्गुणभावेन। तत्राद्ये पक्षे वाच्यालङ्कारमार्गः। द्वितीये तु ध्वनावन्तर्भावस्तृतीये तु गुणीभूतव्यङ्ग्यरूपता।**

ध्वन्यालोक पृ० ४६८–७०

२. **शब्दस्य च वक्रता अभिधेयस्य च वक्रता लोकोत्तरेण रूपेणावस्थानमित्ययमेवासौ अलङ्कारस्यालङ्कारभावः। लोकोत्तरतैव चातिशयः, तेना-**

तत्त्वके रूपमें प्रतिष्ठित करनेकी चेष्टा की। दोनों समीक्षक परस्पर अपरिचित थे। एकका दूसरेपर कोई प्रभाव न था। फिर भी उनके उद्भावित सिद्धान्तोंमें अनेकत्र साम्य पाया जाता है। कुन्तक और भोजराजकी विवेचनामें सबसे बड़ा अन्तर यह है कि जहाँ कुन्तकने वक्रोक्तिको ही अपनी आलोचनाकी दृढ़भित्ति बनायी और काव्यके अन्य उपादानोंको अङ्गरूपमें विवेचित किया वहाँ भोजराज अनङ्गकथन अधिक हो गया है। फलस्वरूप वक्रोक्ति-विचार दब गया है। इसीसे वक्रोक्ति-सम्प्रदायके मान्य आचार्यरूपमें कुन्तक ही प्रतिष्ठित हुए, भोजराज नहीं।

वक्रोक्ति और भोजराज

वाणीकी विविध भङ्गिमाओंसे उत्पन्न होनेवाले चमत्कारसे राजा भोज भलीभाँति अवगत थे। उनके अनुसार वक्रता-विरहित वचन ही लोक और शास्त्रमें 'वचन' कहा जाता है। उसमें वस्तुओंको किसी प्रकार सुन्दरतापूर्वक कहनेका आग्रह नहीं पाया जाता। सरल अभिव्यक्ति ही उसकी अपनी विशिष्टता है। किन्तु किसीकी निन्दा या प्रशंसाके प्रसङ्गमें वचन अतिशयान्वित हो जाता है। वचनकी यह अतिशयता ही काव्यका मूल है। अब रही विद्वानों द्वारा उन्मीलित शब्दार्थों-की प्रतीयमानता। उसके विषयमें भोजराजका निश्चित मत है कि सामान्य 'वचन'में जो 'तात्पर्य' रहता है वही काव्यमें 'ध्वनि'की सञ्ज्ञा प्राप्त करता है[1]।

तिशयोक्तिः सर्वालङ्कारसामान्यम्। तथाहि अनया अतिशयोक्त्या अर्थःसकलजनोपभोगपुराणीकृतोऽपि विचित्रतया भाव्यते तथा प्रमदो-द्यानादिविभावतां नीयते, विशेषेण भाव्यते, रसमयीक्रियते।

ध्वन्यालोक पृ० ४६७–६८

१. तात्पर्यं यस्य काव्येषु ध्वनिरिति प्रसिद्धिः।
"तदुक्तं तात्पर्यमेव वचसि ध्वनिरेव काव्ये॥"

मम्मटाचार्यने काव्यप्रकाशके पञ्चम उल्लासमें तात्पर्यमें ध्वनिको गतार्थ माननेवालोंका विशेष खण्डन किया है।

उनके अनुसार लौकिक वचन और कविवचनमें–तात्पर्य एवं ध्वनिमें, वक्रता-का अभाव या सद्भाव ही कारण होता है[1]।

इस प्रकार राजा भोज भी कुन्तकके समान वक्रोक्तिके तात्कालिक उपासक थे तथा अलङ्कारमार्गकी पुनः प्रतिष्ठा करानेके प्रयत्नमें व्यस्त थे। उनमेंसे कोई भी यद्यपि एक दूसरेके सिद्धान्तोंसे परिचित नहीं था, तथापि समकालीन समीक्षणके सादृश्यका प्रभाव दोनोंके ग्रन्थोंकी तुलना करनेपर देखा जाता है। पण्डित बलदेव उपाध्यायने इन चार समान स्थलोंका निर्देश किया है—

१—कुन्तकके प्रबन्ध-प्रकरणोंका पारस्परिक 'अनुग्राह्यानुग्राहकभाव' भोज-का 'सुश्लिष्ट सन्धित्व' नामक प्रबन्ध गुण है। समग्र प्रबन्धमें 'एकवाक्यता' लानेके लिए प्रत्येक सर्गका वर्ण्यविषय परस्पर अनुरूप एवं अनुकूल होना चाहिये।

२—कुन्तकने अङ्गी रस और अङ्ग रसके सामञ्जस्यको 'प्रबन्धवक्रता' कहा है। इसीको भोजराजने 'रसभावनिरन्तरत्व' नामक अन्यतम प्रबन्धगुण माना है। जिस प्रकार एक ही रस भोजनमें वैरस्य उत्पन्न करता है उसी प्रकार प्रबन्धमें एक ही रसकी सामग्रीका सञ्चय अरुचिकर होता है।

३—नाटकके अन्तर्गत नाटक रखनेकी कुन्तकवाली व्यवस्था भोजराजके 'गर्भाङ्कविधान' नामक प्रबन्ध-गुणसे समता रखती है।

४—कुन्तक काव्यका उद्देश्य 'पुरुषार्थ'की प्राप्ति मानते हैं जो प्रबन्ध-वक्रताका ही एक प्रकार है। भोजराजने इसे 'महावाक्यार्थ' नामसे अभि-हित किया है।

वक्रोक्ति और स्वभावोक्ति

वक्रोक्तिके स्वरूपसे पूर्ण परिचय प्राप्त करनेके लिए स्वभावोक्तिका तुलना-त्मक परिशीलन अत्यन्त अपेक्षित है। सामान्यतः जहाँ वर्ण्य वस्तुके स्वभाव-

---

१. कः पुनरनयोः काव्यवचसोः ध्वनितात्पर्ययोः विशेषः ?
उच्यते, यदवक्रं वचः शास्त्रे लोके च वच एव तत्।
वक्रं यदर्थवादादौ तस्य काव्यमिति स्मृतिः॥

का उन्मीलन, आकार-प्रकारका चित्रण तथा चेष्टाओंका उन्मेष वर्णित होता है उस [illegible] कहते हैं। परन्तु जहाँ सर्वसाधारणसे विलक्षण, अनन्यसाधारण वर्णन होता है वहाँ वक्रोक्ति अलङ्कार कहा जाता है।

आलङ्कारिकोंको छोड़कर सबसे प्राचीन स्वभावोक्तिकी चर्चा बाणभट्टके ग्रन्थोंमें मिलती है। बाणभट्ट इसे 'जाति' शब्दसे अभिहित करते हैं। 'अग्राम्या जाति' या 'सुजाति' उन्हें अत्यन्त प्रिय है। इसीसे काव्यके दुर्लभ उपादानोंमें वे उसे अन्यतम मानते हैं। इस जातिमें कवि द्वारा निष्पन्न वस्तुओंका नैसर्गिक चमत्कारकारी वर्णन होता है। अतः इसे वस्तुस्थितिके लौकिक या शास्त्रीय वर्णनोंसे भिन्न मानना चाहिये।

आलङ्कारिकोंमें सर्वप्रथम भामहने 'स्वभावोक्ति'का निरूपण किया। यह अलङ्कार उक्तिकी उस अवस्थामें होता है जिसमें वर्णनीयके स्वभावका अभिधान किया जाय[1]। परन्तु इसे 'वार्ता'से भिन्न समझना चाहिये। भामहका तो विशिष्ट मत है कि वक्रोक्तिके बिना कोई अलङ्कार नहीं हो सकता। अतः इस स्वभावोक्तिमें भी वक्र कथनकी स्थिति विद्यमान रहती है। इसे बाणभट्टकी 'जाति'का अपार अभिधान समझना चाहिये।

दण्डीने वाङ्मयको स्वभावोक्ति और वक्रोक्ति—इन उभयविध भेदोंमें बांट दिया है। दोनोंके पार्थक्यकी चर्चा गत अध्यायमें हो चुकी है। यहाँ स्वभावोक्तिके लक्षणपर ध्यान देना चाहिये। दण्डीकी स्वभावोक्ति या जाति वह आद्यालङ्कृति है जो पदार्थोंकी नानावस्थाओंके रूपोंको साक्षात् (प्रत्यक्षके समान[2] या अव्याजरूपमें[3]) विवृत कर दे। तात्पर्य यह है कि इसमें आलङ्कारिक चमत्कारके लिए किसी प्रकारकी बाह्य सहायता अपेक्षित नहीं

---

१. स्वभावोक्तिरलङ्कार इति केचित्प्रचक्षते,
अर्थस्य तदवस्थत्वं स्वभावोऽभिहितो यथा। २,९३
किन्तु जैसा कि भामहने अन्य अलङ्कारोंके विषयमें किया है वैसे ही इस अलङ्कारके निरूपणमें भी वे दूसरे लोगोंका पक्ष उपस्थित करते हैं।

२. 'साक्षात्' शब्दपर तरुण वाचस्पतिकी टीका—'प्रत्यक्षमिवदर्शयन्ती'।

३. 'साक्षात्' शब्दपर हृदयङ्गमाकी व्याख्या—'अव्याजेन विवृण्वती'।

रहती। दण्डीने जाति, गुण, क्रिया और द्रव्यके आधारपर इसके चार भेद किये हैं। इस वाग्विकल्पका साम्राज्य काव्य एवं शास्त्रमें उभयत्र है। यह अलङ्कार वक्रोक्ति-कल्पनाके ठीक विपरीत है।

रुद्रटने वास्तव, औपम्य, अतिशय और श्लेप—इन चार कोटियोंमें अर्थालङ्कारोंको विभाजित करते हुए वास्तवकी वह श्रेणी स्वीकार की है जिसमें वस्तुके स्वरूपका कथन होता है। परन्तु यह कथन न तो विपरीत होना है और न उपमा, अतिशय या श्लेपसे मण्डित ही। साथ ही वह 'पुष्टार्थ' भी होता है[१]। पुष्टार्थकी व्याख्यामें नमिसाधुने इसे अपुष्टार्थका निवर्तक माना है। अतः साधारण वर्णन वास्तवकी कोटिमें नहीं आ सकता। वास्तवकी कोटिमें सहोक्ति आदि कई अलङ्कार हैं जिनमें 'स्वभावोक्ति' मुख्य है। 'वास्तव' सेजातिका भेद दिखाते हुए नमिसाधुका कहना है कि 'वास्तव' यथातथ्य वर्णन है, पर जाति ऐसा रोचक वर्णन उपस्थित करती है जिसमें परस्थ स्वरूप श्रोताके मानस पटलपर अनुभवके रूपमें अङ्कित हो जाता है[२]। अतः नमिसाधु भी जातिकी अग्राम्यता, चारुता आदि विशेपताओंसे सहमत प्रतीत होते हैं।

भट्टोद्भट भी स्वभावोक्तिको अलङ्कार मानते हैं। परन्तु उनकी स्वभावोक्ति क्रियामें प्रवृत्त होनेवाले मृगशावकादिकी लीलाओंतक ही सीमित है[३]।

भोजराजने सरस्वतीकण्ठाभरणमें उस वर्णनको जाति माना है जो भिन्न-भिन्न अवस्थाओंमें उत्पन्न होनेवाले वस्तुके विभिन्न रूपोंसे सम्बन्ध रखता है[४]। अर्थव्यक्तिसे इसमें यह अन्तर है कि अर्थव्यक्ति सार्वकालिक रूपका

---

१. वास्तवमिति तज्ज्ञेयं क्रियते वस्तुस्वरूप कथनं यत्।
पुष्टार्थमविपरीतं निरुपममनतिशयमश्लेषम्॥
रुद्रट ८,१०

२. जातिस्तु अनुभवं जनयति। यत्र परस्थं स्वरूपं वर्ण्यमानमेव अनुभवमिवैतीति स्थितम्।

३. क्रियायां सम्प्रवृत्तस्य हेवाकानां निबन्धनम्।
कस्यचिन्मृगडिम्भादेः स्वभावोक्तिरुदाहृता॥ उद्भट ३,८

४. नानावस्थासु जायन्ते यानि रूपाणि वस्तुनः।

हैं[1]। वस्तुतः जिस वस्तुकी की शोभा की जाती है उसे 'अलङ्कार्य' कहते हैं और उस शोभाकी साधक सामग्रीका नाम 'अलङ्कार' है। इस दृष्टिसे विचार करनेपर स्वभावका उन्मीलन करनेके कारण स्वभावोक्तिमें "काव्यशरीरकल्प-वस्तु"का ग्रहण होता है जो अलङ्कार्य है। बिना इस स्वभावके विवरणके वस्तुकी उपाख्या कभी भी सम्भव नहीं है[2]। अतः स्वभावोक्ति अलङ्कार नहीं, अलङ्कार्य है। यह अलङ्कार्य ही काव्यका शरीर है। उसे यदि अलङ्कार माना जाय तो वह किसका अलङ्करण करेगा? जिस प्रकार कोई स्वयं अपने कन्धे-पर नहीं बैठ सकता उसी प्रकार अलङ्कार्य भी अलङ्करण नहीं हो सकता[3]। यदि थोड़ी देरके लिए मान भी लिया जाय कि स्वभाव भूषण है तब वही भूषण जब अलङ्कारान्तरके साथ विहित होगा उस समय दो स्थितियाँ उत्पन्न होंगी—१. कहीं स्वभावोक्ति एवं अलङ्कारान्तरका भेदाववोध सुस्पष्ट होगा और २. कहीं अपरिस्फुट होगा। प्रथम स्थितिमें, (नरसिंहवत् या तिलतण्डुल-वत्) संसृष्टि नामक अलङ्कार होगा तथा द्वितीयावस्थामें (नीरक्षीरवत्) सङ्कर नामक अलङ्कार होगा। ऐसी दशामें अलङ्कारान्तर निर्विषय हो जायेंगे—उनका

वोक्तिः, विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद्रसनिष्पत्तौ रसोक्तिरिति त्रिविधं वाङ्मयम्।

शृङ्गारप्रकाश

१. अलङ्कारकृतां येषां स्वभावोक्तिरलङ्कृतिः।
अलङ्कार्यतया तेषां किमन्यदवतिष्ठते॥
इस कारिकाकी वृत्ति भी द्रष्टव्य है।

वक्रोक्तिजीवित १,११

२. स्वभावव्यतिरेकेण वक्तुमेव न युज्यते,
वस्तु तद्रहितं यस्मान्निरुपाख्यं प्रसज्यते।

वक्रोक्तिजीवित १,१२

३. शरीरं चेदलङ्कारः किमलङ्कुरुते परम्,
आत्मैव नात्मनः स्कन्धं क्वचिदप्यधिरोहति।

वक्रोक्तिजीवित १,१३

विवेचन व्यर्थ हो जायगा। यदि यह कहा जाय कि उन अलङ्कारोंका वर्णन भी संसृष्टि एवं सङ्करको विषय बनाकर किया गया है तो भी ठीक नहीं, क्योंकि उन्हीं अलङ्कारोंके द्वारा उस अर्थकी स्वीकृति नहीं की जाती[1]।

स्वभावोक्ति अलङ्कार्य है। अलङ्कार्यकी व्याख्यामें कुन्तक लिखते हैं कि यदि वस्तु उत्कृष्ट धर्मसे (सहृदयाह्लादकारिस्वस्पन्दसुन्दर अर्थसे) युक्त न हो तो उसका अलङ्करण भी अयुक्त चित्रफलकपर बनाये गये चित्रकी भाँति शोभातिशयकारिता नहीं उत्पन्न कर सकता। अतएव अत्यन्तरमणीय स्वाभाविक धर्मयुक्त वर्णनीयका ग्रहण करना चाहिये। फिर उसे यथायोग्य औचित्यके अनुकूल रूपकादि अलङ्कारकी योजनासे सजाना चाहिये[2]। इससे स्पष्ट है कि कुन्तक स्वभावोक्तिकी सामग्रीको वक्रोक्ति (आहार्य शक्ति) के परिधानसे सज्जित करना चाहते हैं। किन्तु इससे यह समझना भूल होगी कि वे अलङ्कारहीन स्वभावोक्तिके लालित्यपर रीझना नहीं जानते। वस्तुतः इसी रुझानके कारण वे शुद्ध स्वभावोक्तिके स्थलोंपर "वस्तुवक्रता" स्वीकार करते हैं[3]।

---

१. भूषणत्वे स्वभावस्य विहते भूषणान्तरे।
भेदावबोधः प्रकटस्तयोरप्रकटोऽथवा ॥
स्पष्टे सर्वत्र संसृष्टिरस्पष्टे सङ्करस्ततः।
अलङ्कारान्तराणां च विषयो नावशिष्यते ॥
······यदि वा तावेव संसृष्टिसङ्करौ तेषां विषयत्वेन कल्पेते तदपि न किञ्चित्, तैरेव अलङ्कारैस्तस्यार्थस्यानङ्गीकृतत्वात्।
वक्रोक्तिजीवित पृ० २४–२५

२. अनुत्कृष्टधर्मयुक्तस्य वर्णनीयस्यालङ्करणमप्यसमुचितभित्तिभागोल्लिखितालेख्यवन्न शोभातिशयकारितामावहति। तस्मादत्यन्तरमणीयस्वाभाविकधर्मयुक्तवर्णनीयवस्तु परिग्रहणीयम्। तथाविधस्य तस्य यथायोगमौचित्यानुसारेण रूपकाद्यलङ्कारयोजना भवितव्यम्।
वक्रोक्तिजीवित पृ० १२५

३. उदारस्वपरिस्पन्दसुन्दरत्वेन वर्णनम्,
वस्तुनो वक्रशब्दैकगोचरत्वेन वक्रता।

उनका यदि विवाद है तो केवल इतना ही कि स्वभावोक्तिको अलङ्कार न कहना चाहिये।

वक्रोक्तिके प्रकार

यद्यपि वक्रोक्तिके भेदोंकी इयत्ता परिकल्पित नहीं की जा सकती, तथापि कुन्तकने सौकर्यके लिए व्यापक रूपमें छः भेदोंको स्वीकार किया है[1]। क. वर्णविन्यासवक्रता, ख. पदपूर्वार्धवक्रता, ग. पदपरार्धवक्रता, घ. वाक्यवक्रता, ङ. प्रकरणवक्रता, च. प्रबन्धवक्रता।

ध्यान देनेसे विदित होगा कि कुन्तककी यह विवेचना बहुत ही सूक्ष्म-ग्राहिणी एवं महत्त्वपूर्ण है। भाषाका चरमावयव वर्णोंतक ही ले जाया जा सकता है। अतः वर्णोंमें लायी गयी विच्छित्ति या वक्रताको उन्होंने वर्णविन्यास-

---

वक्रोक्तिजीवित ३,१

कुन्तकके इस सुस्पष्ट विवेचनके अनन्तर भी आलङ्कारिकोंने स्वभावोक्तिकी अलङ्कारता प्रतिपादित करनेका प्रयत्न किया है। इसमें महिमभट्ट सर्वाधिक उल्लेखनीय हैं। उन्होंने कहा कि वस्तुओंका दो रूप होता है, पहला विकल्पप्रधान सामान्य रूप और दूसरा कविप्रतिभोत्थित विशिष्ट रूप। प्रथम, सामान्य व्यवहारमें अर्थबोधके लिए व्यवहृत होता है। द्वितीय, सत्कविकी सरस्वतीमें अन्तर्निविष्ट मिलता है। वैचित्र्य-समन्वित होनेके कारण इसीको स्वभावोक्ति अलङ्कार कहा जाता है। द्रष्टव्य व्यक्तिविवेक २,११३–१२०

परन्तु भट्टजीके कथनसे कुन्तकके प्रश्नका समाधान नहीं होता। इसीसे आचार्य पण्डित रामचन्द्र शुक्लने "कविता क्या है" शीर्षक निबन्धमें स्वभावोक्तिको अलङ्कार नहीं माना।

१. कविव्यापारवक्रत्वप्रकाराः संभवन्ति षट्।
प्रत्येकं बहवो भेदास्तेषां विच्छित्तिशोभिनः॥
वर्णविन्यासवक्रत्वम्············।

वक्रोक्तिजीवित १,१८

वक्रतामें अन्तर्भूत किया है। अन्य साहित्यशास्त्री अनुप्रास और यमक नाम-से जिन शब्दालङ्कारोंका अभिधान करते हैं वे ही इस वक्रताप्रकारमें आये हैं। किन्तु जैसे आनन्दवर्धनने ध्वन्यात्मा काव्यके लिए अलङ्कारोंका निर्णय करते हुए यह कहा था कि अनुकूलता और प्रतिकूलताकी दृष्टिसे उनका ग्रहण तथा त्याग होना चाहिये वैसे ही कुन्तक भी शब्दालङ्कारोंके विषयमें कहते हैं कि प्रस्तु-तौचित्यको लेकर ही वर्णमैत्री सङ्घटित्त करनी चाहिये। अन्यथा वर्णसावर्ण्य-के व्यसनसे उपनिबद्ध शब्दालङ्कार प्रस्तुतौचित्यको म्लान कर देते हैं[1]। उनके विचारके अनुसार अनुप्रासजन्य सौन्दर्यके उत्पादनके लिए तीन बातोंका ध्यान रखना चाहिये[2]। पहली बात है 'नीतिनिर्बन्धविधान'। निर्बन्धका अर्थ व्यसन है। व्यसनके कारण [illegible] आग्रहपूर्वक [illegible] विधान न करना चाहिये जैसा कि 'कूलनमें केलिनमें' दिखाई पड़ता है। वस्तुतः आनन्दवर्धनकी अलङ्कारविषयक 'अपृथग्यत्ननिर्वर्त्य'की कल्पना कुन्तकको भी मान्य है। अनुप्रासके विधानमें ध्यान देने योग्य दूसरा तत्त्व पेशलता है। अपेशल या कर्णकटु वर्णोंकी योजना बहुत ही उद्वेजक होती है। किन्तु प्रस्तुतौचित्य-की दृष्टि यहाँ भी रखनी अनिवार्य है। इसीसे परुषरसके प्रस्तावमें परुष वर्णघटित रचना ही विधेय है[3]। अनुप्रास-निबन्धनमें तीसरी ध्यान देने योग्य

---

१. ······प्रस्तुतौचित्यशोभिनः।

प्रस्तुतं वर्ण्यमानं वस्तु तस्य यदौचित्यमुचितभावस्तेन शोभन्ते ये तथोक्ताः। न पुनर्वर्णसावर्ण्यव्यसनितामात्रेणोपनिबद्धाः प्रस्तुतौचित्यम्लानकारिणः॥

वक्रोक्तिजीवित पृ० ८०

२. नातिनिर्बन्धविहिता नाप्यपेशलभूषिता।
पूर्वावृत्तपरित्यागनूतनावर्तनोज्ज्वला ॥

वक्रोक्तिजीवित २,४

३. प्रस्तुतौचित्यशोभित्वात् कुत्रचित्परुषरसप्रस्तावे तादृशानेवाभ्यनु-जानाति।

वक्रोक्तिजीवित पृ० ८०

बात पूर्वावृत्त वर्णोंका परित्याग करके नूतन वर्णोंकी योजना है। बिना इस अनुसन्धानके चारुत्वका सम्पादन नहीं हो सकता। अतः कविको काव्यके गुण तथा मार्गके साहचर्यमें अनुप्रासकी मैत्री बिठानी चाहिये। प्राचीनोंने इसीको 'वृत्तिवैचित्र्य' कहा है[1]। वर्णमैत्रीके समान ही प्रसादगुण युक्त, श्रुतिपेशल और औचित्ययुक्त यमकका विधान 'समर्पक' हो सकता है[2]। किन्तु वर्णविन्यासवैचित्र्यके अतिरिक्त उसकी और कोइ शोभा नहीं[3]।

वर्णोंके समुदायसे शब्द बनता है। किन्तु वही शब्द सुबन्त या तिङन्त होनेपर पद कहलाता है। पदमें दो भाग होते हैं—एक तो प्रकृति, दूसरा प्रत्यय। इसीसे कुन्तकने पदमें दो प्रकारकी वक्रता स्वीकृत की है। पदके पूर्वमें निवास करनेवाली वक्रता पदपूर्वार्धवक्रता कही जाती है और उत्तरार्धमें रहनेवाली वक्रता पदपरार्धवक्रता शब्दसे अभिहित होती है। इस अन्तिम वक्रताको प्रत्यय-वक्रता भी कहते हैं।

पदपूर्वार्धवक्रताके अन्तर्गत रूढ़ि, पर्याय, उपचार, विशेषण, संवृति, भाव, लिङ्ग और क्रियाके मुख्य प्रयोगोंका विवेचन किया गया है। इनमेंसे रूढ़िवैचित्र्यवक्रताका विवेचन सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि इसके अन्तर्गत अर्थान्तरसङ्क्रमितवाच्य ध्वनिका समाहार किया गया है। उपचारवक्रतामें अत्यन्ततिरस्कृतवाच्य ध्वनि अन्तर्भुक्त की गयी है। ध्वन्यालोकके ही उदाहरणोंके निस्सङ्कोच ग्रहणसे, जिनमें आनन्दवर्धनके भी कुछ श्लोक सम्मिलित हैं,

---

१. **वर्णच्छायानुसारेण गुणमार्गानुवर्तिनी।**
वृत्तिवैचित्र्यवुक्तेति सैव प्रोक्ता चिरन्तनैः॥

वक्रोक्तिजीवित पृ० २,५

२. **समानवर्णमन्यार्थप्रसादि श्रुतिपेशलम्।**
औचित्ययुक्तमाद्यादि नियतस्थानशोभियत्॥

वक्रोक्तिजीवित २,६

३. **अस्य च वर्णविन्यासवैचित्र्यव्यतिरेकेण अन्यत्किञ्चिदपि जीवितान्तरं न परिदृश्यते।**

वक्रोक्तिजीवित पृ० ८७

सिद्ध है कि कुन्तकने अपनी शुद्ध विदग्धताके आधारपर नवमार्गका उन्मेष किया है।

पदपरार्धवक्रतामें काल, कारक, सङ्ख्या, पुरुष, उपग्रह, प्रत्यय तथा पद आदि वक्रताओंका विशेष विस्तारपूर्वक विवेचन किया गया है। इन पदार्थों-से होनेवाली ध्वनि तत्तत् वक्रताप्रकारोंमें अन्तर्निविष्ट दिखायी गयी है। औचित्यका प्रतिमान आनन्दवर्धनके समान ही कुन्तक भी सार्वत्रिक रूपसे ग्रहण करते हैं।

पदोच्चय ही कुछ विशेषताओंके साथ वाक्यका रूप धारण करता है। पदोच्चयोंकी योजना योजक-भेदसे अनन्तरूपात्मक हो सकती है। अतएव उनमें लायी गयी वक्रता भी सङ्ख्यातीत होगी। इसीसे कुन्तकने वाक्यके वक्र-भावको अनन्त माना है और स्वीकार किया है कि इसी प्रकारमें समस्त अल-ङ्कारप्रपञ्च सन्निविष्ट है[1]। उनके अनुसार प्रत्येक अलङ्कारके दो रूप होते हैं—वाच्य तथा प्रतीयमान। शङ्का की जा सकती है कि अभिधावादी कुन्तक ध्वनि-को कैसे स्वीकार कर रहे हैं? इसका उत्तर यह है कि उनकी अभिधामें प्रत्ये-यत्व सामान्योपचारसे लक्षण और व्यञ्जना भी गतार्थ हैं। अलङ्कारोंके विषय-में उनका स्पष्ट मत है कि अलङ्कार्यको अलङ्कारकी कोटिमें नहीं लाया जा सकता। इसीसे स्वभावोक्तिको वे अलङ्कार न मानकर अलङ्करणीय मानते हैं। यही इनकी "वस्तुवक्रता" है। रसवदादि अलङ्कारोंके विषयमें भी इनका यही मत है। प्राचीन आलङ्कारिक भामह प्रभृति इन्हें अलङ्कार मानते थे। कुन्तकने उनका पर्याप्त खण्डन किया है। आधार यही है कि रसवदलङ्कारमें रसपेशल एवं स्निग्ध वस्तुका वर्णन पाया जाता है जो काव्यका मुख्य शरीर है। उसे अलङ्कार मानना सङ्गत नहीं हो सकता क्योंकि सहृदयोंको उक्त स्निग्धताके अतिरिक्त और कोई बाहरी चाकचिक्य भासित नहीं होता[2]।

---

१. वाक्यस्य वक्रभावोऽन्यो भिद्यते यः सहस्रधा।
यत्रालङ्कारवर्गोऽसौ सर्वोऽप्यन्तर्भविष्यति ॥

वक्रोक्तिजीवित १,२०

२. अलङ्कारो न रसवत् परस्याप्रतिभासनात्।

अलङ्कार-विषयक उनकी धारणा आनन्दवर्धनसे मिलती है। भणितिवैचित्र्य ही अलङ्कारका अलङ्कारत्व है। उसे प्रस्तुतौचित्यशोभी होना ही चाहिये। इस निकषपर जो परम्पराप्राप्त अलङ्कार नहीं आते थे उनका उन्होंने परित्याग कर दिया है। हेतु, सूक्ष्म और लेश इसीसे अलङ्कार नहीं माने गये।

वाक्योंके समूहसे प्रकरणोंका निर्माण होता है, अतः वाक्यवक्रताके अनन्तर प्रकरणवक्रता आती है। प्रकरण प्रबन्धका ही एकदेश है। जिस प्रकार अवयवी अवयवोंके गुणों और दोषोंको धारण करता है उसी प्रकार प्रबन्ध प्रकरणकी विशेषताओंसे प्रभावित होता रहता है। प्रबन्ध उपकार्य है और प्रकरण उसके उपकारक हैं। दोनोंमें परस्पर उपकार्योपकारकभाव सम्बन्ध रहता है। कुन्तकने प्रकरणवक्रताके अनेक प्रकारोंका कथन किया है, जैसे उत्तम प्रसङ्गोंकी वैसी कल्पना करनी चाहिये जिससे नायकके चरित्रमें दीप्ति आती हो, प्रकरणकी रसनिर्भरता ऐसी सङ्घटित करनी चाहिये जिससे सारा प्रबन्ध रसपेशल हो सके तथा नायक या रसविषयक अनौचित्य परिहृत हो सके।

प्रबन्धवक्रताकी कल्पना यह प्रमाणित करती है कि कुन्तककी काव्य-दृष्टि बहुत ही तलस्पर्शिनी एवं व्यापक थी। इस प्रकार कुन्तकने अपनी समीक्षाको शब्दार्थोंसे आरम्भ कर प्रबन्धवक्रताकी कोटितक पहुँचा दिया। प्रबन्धवक्रता-का व्याख्यान करते हुए वे कहते हैं कि जहाँ इतिवृत्तको रसकी दृष्टिसे बदल-कर रम्य रसान्तरके द्वारा परिसमाप्ति की जाती है, जिससे कथामूर्ति आमूल रसस्निग्ध होनेके साथ-साथ विनेयोंको विशेष आनन्दप्रद होती है, वहीं प्रबन्ध-वक्रताका स्थान मानना चाहिए[1]।

स्वरूपादतिरिक्तस्य शब्दार्थासङ्गतेरपि॥

वक्रोक्तिजीवित ३,१०

१. इतिवृत्तान्यथावृत्तरससम्पदुपेक्षया।
रसान्तरेण रम्येण यत्र निर्वहणं भवेत्॥
तस्या एव कथामूर्तेराममूलोन्मीलितश्रियः।

वक्रोक्ति और ध्वनि

वक्रोक्तिजीवितकारने किस प्रकार उपचारादि वक्रता-प्रकारोंमें ध्वनिको समाविष्ट किया, इसे प्राचीन आलङ्कारिकोंने भलीभाँति समझा था[1]। पूज्य पं० बलदेव उपाध्यायजीके मतानुसार अभिनवगुप्त भी कुन्तकके सिद्धान्तनिरूपण एवं विशद वर्णनसे भली भाँति परिचित रहनेके कारण ही अभिनवभारतीमें 'अन्यैरपि सुबादिवक्रता'के द्वारा कुन्तककी ओर सङ्केत करते हैं[2]। पद-पूर्वार्धवक्रतामें लक्षणामूला ध्वनिके उभय भेद सन्निविष्ट हैं ही। पर्यायवक्रताके निरूपणमें कभी-कभी श्लेषके द्वारा अलङ्कारान्तरका द्योतन करनेके लिए प्रस्तुत वस्तुके ऊपर अप्रस्तुतका आरोप दिखलाते हुए कुन्तकने स्पष्टतः शब्दशक्तिमूलानुरणनरूप व्यङ्ग्यकी, पदध्वनिकी सत्ता समर्थित की है[3]। अतः ध्वनिकारके अनेकत्र उल्लेखसे, ध्वन्यालोकके उदाहरणोंके विवरणसे, प्रत्येक अलङ्कारके वाच्य और प्रतीयमान भेद कल्पित करनेसे, रसवदादिमें अलङ्कारताके खण्डनसे यह अत्यन्त स्फुट है कि कुन्तकने ध्वनिप्रपञ्चको वक्रता-प्रकारोंमें आत्मसात् करनेका घोर प्रयत्न किया।

ऐसी स्थितिमें यह प्रश्न होता है कि ध्वनि और वक्रोक्तिका भेदक तत्त्व क्या है ? हमारी समझसे जिस प्रकार चेतन एवं जड़का सङ्घातरूप भासित होनेवाले जीवमें आत्माकी सत्ता शरीरातिरिक्त मानी जाती है उसी प्रकार

विनेयानन्दनिष्पत्त्यै सा प्रबन्धस्य वक्रता ॥

वक्रोक्तिजीवित ४,१६,१७

१. "उपचारवक्रतादिभिः सर्वो ध्वनिप्रपञ्चः स्वीकृत एव"।

अलङ्कारसर्वस्व पृ० ८

२. विशेष द्रष्टव्य साहित्यशास्त्र पृ० ३१८

……एष एव च शब्दशक्तिमूलानुरणनरूपव्यङ्ग्यस्य पदध्वनेर्विषयः बहुषु चैवं विधेषु।

३. सत्सु वाक्यध्वनेर्वाय।

वक्रोक्तिजीवित पृ० ९५

ध्वनि काव्यकी आत्मा है। परन्तु जैसे जीवका व्यवहार दोनोंके यौगपद्यमें होता है उसी प्रकार वक्रोक्ति, विशिष्टाभिधा भी वाच्य और व्यङ्ग्य दोनोंके साथ व्यवहृत होती है। इसीसे "काव्यस्यात्मा ध्वनिः" तथा "वक्रोक्तिः काव्यजीवितम्"में स्पष्टतः भेद भासित होता है। इससे कुन्तकने वर्णविन्यास-वक्रतासे लेकर प्रबन्धवक्रतातकको एक सूत्रमें ग्रथित करनेका यत्न किया है, पर ध्वनिवादियोंने ध्वनिके उपस्कारक रूपमें ही काव्यके अन्य उपदानोंका ग्रहण किया।

वक्रोक्ति और रस

वक्रोक्तिमें चमत्कार अन्तर्निविष्ट है। किन्तु इस चमत्कारको बालरुचि-वाले चमत्कारसे, अनुप्रास, यमक आदिकी पदवक्रता तथा असङ्गति, विरोधा-भास आदि वाक्य वक्रताओंसे भिन्न मानना चाहिये, क्योंकि कुन्तकने इन सबको 'प्रस्तुततौचित्य' विशेषणसे विशेषित कर दिया है।

वस्तुतः चमत्कारका क्या अभिप्राय है इसे समझ लेना चाहिये। यह ध्वनिनिर्मित शब्द सङ्कीर्ण अर्थमें अनूठी उक्तिके लिए व्यवहृत होता है। ऐसी उक्तियाँ काव्यकी प्रकृत भावभूमिका परिपोष न करके अर्थात् रिरिंसावृत्तिको जागरित न करके कौतुकवृत्ति अर्थात् जिज्ञासावृत्तिकी तृप्तिमें पर्यवसन्न होती हैं। इनमें हृदयको रमानेकी शक्ति नहीं, प्रत्युत बुद्धिको आकृष्ट करनेकी प्रौढ़ि होती है। इसे शुद्ध वाग्वैचित्र्य कह सकते हैं, किन्तु कुन्तककी विचित्राभिधा इससे सर्वथा भिन्न है। वहाँ चमत्कारका व्यापक अर्थ है।

यहाँके रसशास्त्रियोंने अनुसन्धानपूर्वक नवरसोंके उपभोगमें चित्तकी तीन भूमिकाएँ मानी हैं—द्रुति, दीप्ति और विस्तृति। शृङ्गार, करुण और शान्त-में उत्तरोत्तर चित्त द्रवित होता जाता है, मधुरताका क्रमशः आधिक्य होता जाता है। वीर, वीभत्स और रौद्रमें दीप्तिका, ज्वलनशीलताका क्रमिक विकास होता जाता है। हास, अद्भुत और भयानकमें उत्तरोत्तर चित्त विकसित होता जाता है। इसी चित्तके विस्फारको विस्मय कहते हैं। किन्तु विश्वनाथ कवि-राजने चित्त-विस्फार या विस्तारकी उक्त भावनाको विकसिक करके उसे सत्त्व-

मार्गोंको ग्रहण किया और न वामनकी वैदर्भी, गौडी और पाञ्चाली रीतियोंको ही स्वीकार किया। कारण यह है कि ये नामकरण भौगोलिक आधारपर हुए थे। कुन्तक रीतिको देशविशेषसे किसी प्रकार सम्बद्ध नहीं कर पाते। उनका कहना है कि देशभेदके आधारपर विभाजन करनेसे रीतियोंकी सङ्ख्या अनन्त हो जायगी। देशधर्मपर भी रीतियोंका वर्गीकरण नहीं हो सकता, क्योंकि देशधर्म विशिष्ट प्रदेशके विशेष नियमोंको कहते हैं जो वृद्धोंकी व्यवहार-परम्परापर अवलम्बित होता है। उदाहरणके लिए दक्षिणमें मामाकी कन्यासे विवाह विहित माना जाता है। यदि यही स्थिति रीतियोंके विषयमें भी होती तो फिर कवियोंकी व्युत्पत्ति आदिका कोई प्रश्न ही न रह जाता। दूसरी बात यह भी है कि ऐसी दशामें विशिष्ट प्रकारकी काव्यरचनाके साधन विशेष प्रकारकी जल-वायुमें ही उपलब्ध होते। परन्तु स्थिति इससे ठीक प्रतिकूल है। गौड़ीय होनेपर भी गीतगोविन्दके रचनाकारने 'मधुरकोमलकान्तपदावली'का प्रयोग किया तथा वैदर्भ होकर भी भवभूति युद्धके 'रणत्करण' में विशेष सिद्धहस्त हैं। अतः रीतियोंकी देशाश्रयी संज्ञा सर्वथा अनुपयुक्त है। अत-एव रीतियोंका नामकरण रचयिताके स्वभावके ऊपर करना चाहिये।

लेखकके स्वभावका सर्वाधिक प्रभाव उसकी शैलीमें दिखाई पड़ता है। इसीसे पाश्चात्योंका विचार है कि "स्टाइल इज दी मैन हिमसेल्फ।" पौरस्त्य भी कहते हैं कि "स्वभावो मूर्ध्नि वर्तते"। अतः जो स्वभाव जीवनके प्रत्येक कार्यकलापका नियन्त्रण करता है वह यदि देश-काल आदिकी अपेक्षा कृति-कारकी कृतिको भी नियन्त्रित करे तो स्वाभाविक ही है। इसीसे कुन्तकने कवि-स्वभावके अनुसार सुकुमार, विचित्र और मध्यम मार्गका निरूपण किया है। यद्यपि कविस्वभावके सूक्ष्म तथा निगूढ़ भेदोंकी कल्पना असङ्ख्य हो सकती है तथापि उनमें उक्त तीन विशेषताएँ मुख्यतः पायी जाती हैं[1]। कुछ कवि प्रकृत्या सुकुमार स्वभाववाले होते हैं। इसके अनुरूप ही उनकी शक्ति सहजा

---

१. यद्यपि कविस्वभावभेदनिबन्धनत्वाद् अनन्तभेदभिन्नत्वं अनिवार्यं तथापि परिसङ्ख्यातुमशक्यत्वात् सामान्येन त्रैविध्यमेवोपपद्यते।

वक्रोक्तिजीवित पृ० ४७

समान एकपर दूसरे अलङ्कारको जमाते हुए चले जाते हैं। जिस प्रकार रमणी-का शरीर नाना प्रकारके आभरणोंसे आच्छादित होकर उसकी शोभाको कई गुना अधिक बढ़ा देता है उसी प्रकार प्रस्तुतौचित्यशोभी अलङ्कारोंके समूहसे अन्तस्थ अलङ्कार्यकी शोभा अतिशयित की जाती है। इसीको आहार्य शोभा कहते हैं। इस मार्गमें यद्यपि कविको बहुतसा नवीन अर्थजात वर्णनीय नहीं रहता, तथापि वह अपने उक्तिवैचित्र्यसे अलङ्कार्यको लोकोत्तर स्थितिपर पहुँचा देता है। इसी मार्गमें वाच्यवाचकवृत्तिसे अतिरिक्त वाक्यार्थकी प्रतीयमानता उपनिबद्ध की जाती है तथा सरसाकूत भावों एवं स्वभावोंका ऐसा उपबृंहण होता है कि वक्रोक्तिका काव्यजीवितत्व सिद्ध हो जाता है। यही अतिशयाभिधा खड्गधारापथके समान वह दुःसञ्चर मार्ग है जिसपर बाण, सुबन्धु, भवभूति आदि विदग्ध कवि गये हैं[1]।

मध्यम मार्गमें सुकुमार तथा विचित्र उभय मार्गोंकी सहज एवं आहार्य शोभा एकत्र निवास करती है। दोनों मार्गोंके गुणोंका मिश्रण या सन्तुलन इस मार्गकी विशेषता है। वस्तुतः कुछ कवियोंका ऐसा स्वभाव होता है कि न तो उन्हें एकान्त स्वाभाविक सौन्दर्यमें तृप्ति मिलती है और न अलङ्कारोंकी अधिक सजावटसे ही उन्हें सन्तोष होता है। अतः मातृगुप्त एवं मयूरराज आदिने दोनों मार्गोंका समन्वय किया है[2]।

वक्रोक्ति एवं गुण

दण्डी और वामन आदिके समान कुन्तकने भी गुणोंको मार्गोंका व्यावर्तक माना, पर उनकी गुणविषयक कल्पना अभूतपूर्व है। वे दो प्रकारके गुणोंको स्वीकार करते हैं,—सामान्य गुण तथा विशेष गुण। सामान्य गुणोंका सम्बन्ध समान रूपसे प्रत्येक मार्गके साथ होता है, किन्तु विशेष गुण प्रत्येक मार्गमें स्वरूपतः तथा कार्यतः विभिन्न होते हैं।

औचित्य और सौभाग्य—ये दो सामान्य गुण हैं। औचित्य गुण वह

१. द्रष्टव्य वक्रोक्तिजीवित १,२५—२९

२. द्रष्टव्य वक्रोक्तिजीवित १,३४—४३

मानना चाहिये जिस मार्गमें उचिताख्यानका, ऋजुमार्गसे स्वभावकी महत्ताका पोषण होता है, तथा जिस मार्गमें वक्ता या श्रोताके शोभातिशायी स्वभावके द्वारा वाच्यार्थ आच्छादित रहता है[1]। कुन्तक सौभाग्य गुणको 'अलौकिक चमत्कारकारी' तथा काव्यैकजीवित मानते हैं। इसका समुचित स्वरूप काव्य-के उपेयवर्गमें कविप्रतिभाके सम्यक् संरम्भ होनेपर स्फुरित होता है[2]।

विशिष्ट गुणोंकी सङ्ख्या चार है—माधुर्य, प्रसाद, लावण्य और आभि-जात्य। इनमेंसे अन्तिम दो अर्थकी अपेक्षा शब्दसे, अन्तरङ्गकी अपेक्षा बहि-रङ्गसे, विशेष सम्बद्ध हैं। कुन्तकने इन गुणोंकी स्वतः उद्भावना की है।

सुकुमारमार्गमें असमस्तपदविन्यास तथा मनोहारिपदविन्यासरूप माधुर्य गुण होता है। इस गुणका यह स्वरूप सभी आचार्योंको सम्मत है। चित्तको द्रुत करनेवाले रसोंमें यह गुण अत्यन्त अपेक्षित होता है।

सुकुमारमार्गमें प्रसाद गुणका स्वरूप पदोंकी असमस्तता, प्रसिद्धाभि-धानता, अव्यवहितसम्बन्धता तथा समास होनेपर गमकसमासयुक्ततामें व्यक्त होता है। यह गुण रसविषयक भी होता है और वक्रोक्तिविषयक भी। कारण यह है कि दोनों ही अवस्थाओंमें अर्थकी शीघ्रतापूर्वक प्रतीति आवश्यक है।

सुकुमारमार्गमें लावण्य और आभिजात्य गुणोंकी कल्पना शब्दोंके उस श्लक्ष्ण एवं मसृण बन्धसे सम्बद्ध है जो श्रोताको श्रवणगोचर होते ही आकृष्ट कर लेता है। मधुर शब्द कानोंमें आते ही मनको हठात् अपनी ओर खींच लेते हैं। श्रोता इस विषयका अनुभव तो करता है पर अपनी उस अनुभूति-को 'शब्दरूप' नहीं दे पाता।

विचित्र मार्गमें पूर्वोक्त चारों गुण अतिशयित होकर विराजते हैं। वे सहज सौन्दर्यके स्थानपर प्रयत्नसाध्य सौन्दर्यके निष्पादक होते हैं। अतः इनके स्वरूपमें कहीं-कहीं कुछ भेद भी हैं। विचित्र मार्गमें जब पदसन्धान कोमलताका परित्याग करके वैचित्र्यको प्रकट करने लगता है तब उसे माधुर्य-की संज्ञा दी जाती है।

---

१. द्रष्टव्य वक्रोक्तिजीवित १,५३-५४

२. द्रष्टव्य वक्रोक्तिजीवित १,५५-५६

विचित्र मार्गमें प्रसाद गुण किञ्चित् ओजका स्पर्श करता हुआ असमस्त-पदन्याससे युक्त होता है जैसे वाक्यमें एक पदका दूसरेके लिए समर्पक होना आवश्यक है वैसे ही इस मार्गमें एक वाक्य दूसरे वाक्यका पूरक (अन्वित-रूपात्मक) होता है ।

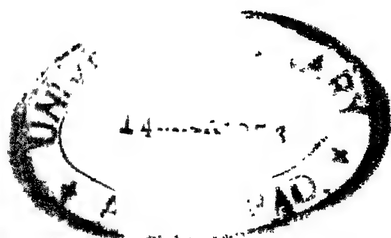
विचित्र मार्गका लावण्य गुण पदोंकी पारस्परिक श्लिष्टतामें अभिव्यक्त होता है । पदोंके अन्तमें विसर्गका लोप नहीं होता तथा संयोगपूर्वक ह्रस्व स्वरोंकी अधिकता रहती है । विचित्र मार्गका आभिजात्य गुण प्रौढ़िमें विद्यमान रहता है । प्रौढ़िका तात्पर्य यह है कि पदोंमें न तो अधिक कोमलता हो और न अधिक ककशता हो, प्रत्युत कविकौशलसे सम्पादित होकर वे दोनोंके मध्यकी स्थिति धारण करें ।

मध्यम मार्गमें भी उक्त चार विशिष्ट गुणोंका अवस्थान होता है । केवल उभयविध मार्गोंकी विशेषाताएँ उसमें एक साथ भासित होती हैं ।

इस प्रकार सम्पूर्ण विवेचनसे सुस्पष्ट है कि कुन्तकने काव्यके विभिन्न उपादानोंको नवीन रूपमें सज्जित करनेका अद्भुत प्रयत्न किया है । वे केवल काव्यके कलापक्षपर ही ध्यान देनेवाले आचार्य नहीं हैं । उन्होंने काव्यके भावपक्षका भी सचिमुत सन्निवेश अपनी विवेचनामें किया है । इसीसे कुन्तककी वक्रोक्ति "वाग्वैचित्र्य" मात्र नहीं प्रत्युत काव्यका व्यापक एवं निगूढ़ तत्त्व है । वह रससिद्ध कवीश्वरोंकी वाणी की विवेचनाका स्तुत्य प्रयास है ।

द्वितीय खंड समाप्त

तृतीय खंड



सौन्दर्य-शास्त्रका इतिहास

मनुष्योंके समान ही राष्ट्रोंकी सांस्कृतिक चेतनामें विभिन्नता होती है। यदि भारतकी अन्तर्गामिनी सांस्कृतिक चेतनाने भाव-प्रभावके विश्लेषणमें 'रस' पाया तो पाश्चात्य राष्ट्रोंकी बहिर्मुख चेतनाने प्रभविष्णु आलम्बनके परीक्षणमें 'सौन्दर्य'का आकलन किया। इसी मनोवैज्ञानिक भेदके कारण भारत और यूरोपने क्रमशः रसानुभूति तथा सौन्दर्यानुभूतिके दो विभिन्न मार्गोंका उन्मेष किया।

प्रस्तुत प्रकरणमें सौन्दर्यशास्त्र-सम्बन्धी-विचारोंके विकासपर दृष्टि रखकर उन प्रवृत्तियोंको लिपिबद्ध करनेका प्रयास किया जाता है जिनका सम्बन्धसूत्र क्रोचेके सौन्दर्यशास्त्रसे मिल सके। इसमें साहित्यशास्त्रके इतिहासके समान प्रवर्तकोंके विवरण, प्रवृत्तियोंके विकास तथा प्रतिपादक ग्रन्थोंके विश्लेषणका एकत्र आग्रह नहीं है।

यूरोपमें सौन्दर्यशास्त्रका प्रारम्भ बामगार्टनसे माना जाता है। किन्तु वे विचार-सूत्र जो क्रोचेके सिद्धान्तोंमें सुग्रथित एवं अनुस्यूत दिखाई देते हैं उनकी उपलब्धि यूनानी दार्शनिकोंके समयसे ही होने लगती है। अतः क्रोचेके सिद्धान्तोंको ऐतिहासिक विकासके प्रसङ्गमें देखनेके लिए यूनानी दार्शनिकोंसे लेकर क्रोचेके समयतकका अन्वीक्षण आवश्यक है। इस सुदीर्घ समयकी यात्रामें काण्ट और हेगेलके स्थल, क्रोचेके साथ विचार-साम्य रखनेके कारण, विशेष रूपसे द्रष्टव्य हैं।

यूनानियोंके मतानुसार कलाकृति और प्रकृतिमें कोई अन्तर नहीं है[1]। जिस प्रकार प्रकृतिका पर्यवेक्षण इन्द्रिय-सन्निकर्षसे सम्पन्न होता है उसी प्रकार

---

1. द्रष्टव्य History of Aesthetic by Bosanquet

कलाकृतिका भोग भी सिद्ध होता है। यह कलाकृति और प्रकृतिकी समानता ही यूनानी सौन्दर्यशास्त्रकी मूल भित्ति है जिसके सहारे उन लोगोंने तीन प्रमुख सिद्धान्त स्थिर किये हैं। प्रथमतः आध्यात्मिक होनेसे कलाकृति प्रकृतिकी व्यर्थ एवं अपूर्ण अनुकृति है। द्वितीय यह कि नीतिशास्त्रके विचारसे प्रकृति जगत्के मान ही कलात्मक संसारके प्रतिमान हो सकते हैं। अन्तिम यह कि सौन्दर्यशास्त्र-के पक्षसे अनुकरण अथवा अभिव्यञ्जनामें ही सौन्दर्य है, क्योंकि कलागत अनु-कार्य प्राकृतिक कार्यसे भिन्न नहीं हैं।

सुकरातने 'मेमोरेब्लिया'में इस विषयका विस्तारपूर्वक विवेचन किया है कि 'अदृश्यका भी अनुकरण हो सकता है'। चित्रमें न केवल दृश्य और रङ्गोंकी अवतारणा की जाती है, अपितु भावयुक्त व्यक्तियोंका भी अङ्कन किया जाताहै। पाश्चात्य मतवाले मतवालोंके अनुसार भाव और विचार, अर्थात् अन्तः-करणकी वृत्तियाँ प्राकृतिक नहीं हैं। अतएव उक्त कथनसे स्पष्ट है कि सुकरात-ने कलामें प्रकृतिकी अनुकृतिके अतिरिक्त भावों और विचारोंको भी स्थान दिया। सुकरातके इस विचारका किञ्चित् विकास अफलातूनके ग्रन्थोंमें मिलता है। उसके अनुसार सङ्गीतके स्वरोंमें भी मानवीय सुखों और दुःखोंकी अभिव्यञ्जना होती है और इसीलिए कलाकृतिमें न केवल प्रतिकृति-स्थापना है, अपितु प्रतीक-की व्यञ्जना भी। इस प्रकार अफलातूनके समयसे प्रतिकृतिके साथ प्रतीक-व्यञ्जना-(Symbolism) का स्थान कलामें स्वीकार कर लिया गया। परन्तु अरस्तूमें ही इसकी पूर्ण परिणति दिखाई पड़ती है। उसके अनुसार चित्रण अभिव्यञ्जनाका अप्रत्यक्ष माध्यम है, किन्तु सङ्गीतके राग, स्वर और लयकी ही व्यञ्जना करते हैं। इस प्रकार कमसे कम सङ्गीतकला प्रत्यक्ष प्रकृतिकी समा-नताके बन्धनसे मुक्त हो गयी। इतना ही नहीं, अरस्तूने 'इण्डस्ट्रियल आर्टस्'-को जो बादमें 'फाइन आर्टस्' या ललित कला कहा गया, प्रकृतिका अनुकरण न मानकर शुद्ध[1] रूप माना है। इस प्रकार जो कला सुकरातके पूर्वतक प्रकृति-की अपूर्ण अनुकृति मानी जाती थी वह अरस्तूके समयमें आकर शुद्ध स्वरूपमें स्वीकृत हो गयी। अरस्तूमें इस विचार-विकासके कारण कुछ असङ्गतियाँ आ

1. art corrective of nature.

गयी हैं, किन्तु अनङ्ग-कथनसे बचनेके लिए उनपर विचार नहीं किया जाता है।

आध्यात्मिक सिद्धान्तका दूसरा महत्त्वपूर्ण अंश है कलाकृतिकी सत्तापर विचार। अफलातून कलाकृतिकी प्रातिबिम्बिक सत्ता मानते हैं, क्योंकि प्रकृति ईश्वरकी कृति है। शिल्पियोंने इस प्रकृतिका अनुकरण कर कुछ उपयोगी वस्तुओंका निर्माण किया। इस निर्मितिकी प्रतिकृति हमें कलाकृतिमें उपलब्ध होनेके कारण कलाकृति प्रकृतिके प्रतिबिम्बका प्रतिबिम्ब है। तारिकाओंसे जटित अम्बर और चन्द्रातपके नीचे तथा तृणास्तरण वसुन्धराके ऊपरका यह संसार प्राणियोंका सुरम्य पर्यङ्क है। इस प्राकृतिक पर्यङ्ककी अवतारणा शिल्पी अपने काष्ठनिर्मित पर्यङ्कमें करता है और यही पर्यङ्क हम चित्रकारके रङ्गीन फलकपर प्रतिबिम्बित देखते हैं। इस प्रकार कलाकी सत्ता प्रातिबिम्बिक सत्ता है[1]।

दूसरा सिद्धान्त यह कि 'नीतिशास्त्रके प्रतिमान ही कलाके प्रतिमान बन सकते हैं'—एक दूसरी समस्याके साथ सम्बद्ध है। यदि कलाका प्रयोजन अन्य प्राकृत कार्योंके अनुसार ऐन्द्रिक सुखकी प्राप्ति ही है तो फिर कलाका प्रतिमान अन्य प्राकृतिक मानोंके समान होगा। किन्तु यदि कलाका प्रयोजन इससे विभिन्न सौन्दर्य-सम्बद्ध 'ऐस्थेटिक इण्टरेस्ट' होगा तो उसके प्रतिमान भी भिन्न-भिन्न होंगे। सुकरातने अपने उक्त ग्रन्थ 'मेमोरेब्लिया'में इसी समस्या-

---

१. प्रारम्भिक अनुच्छेदमें यह स्पष्ट कर दिया गया है कि भारतीयोंने रस-प्रतीतिका विश्लेषण किया है जब कि यूरोपीय विद्वानोंने सौन्दर्य-प्रतीकका आलोड़न किया। दार्शनिक क्षेत्रमें भारतीयोंने सत्ता-विषयक विचार मनकी स्वप्न, जागर्ति आदि विभिन्न अवस्थाओंको लेकर किया है, किन्तु अफलातूनने सौन्दर्य-प्रतीक अर्थात् आलम्बन-की दृष्टिसे इसपर विचार प्रस्तुत किया। इसीसे यहाँ रसकी सत्ता प्रातीतिक सत्ता मानी गयी है। किन्तु अफलातूनने सौन्दर्य-प्रतीक-की दृष्टिसे प्रातिबिम्बिक सत्ताका उपस्थापन किया है।

को प्रश्नोत्तरोंके रूपमें समझाया है। उसका प्रथम प्रश्न प्रारम्भ होता है— "Has a beautiful thing as such a real interest".

अफलातूनने इसी विषयका पुनः पल्लवन किया। उसने यह माना कि शुद्ध सुख सौन्दर्यसे उद्भूत होता है। उसमें इन्द्रियजन्य अशुद्ध सुखोंके समान स्वार्थमूलक प्रयोजन नहीं रहते। किन्तु उसके विवेचनमें हमें यह नहीं पता चलता कि अन्य उच्च क्रियाओं और प्राकृत भावनाओंसे काव्यगत भावनाएँ किस प्रकार भिन्न हैं। इस प्रकार अफलातूनने प्राकृत प्रयोजनों-(रियल इण्टरेस्ट) से सौन्दर्य-सम्बद्ध प्रयोजनोंको यह मानकर बिलग तो किया कि प्रथममें इन्द्रियजन्य सुख, जो स्वार्थमूलक होनेके कारण अशुद्ध है, उत्पन्न होता है और द्वितीयमें रूपात्मक सौन्दर्य (फार्मल बिउटी) के कारण शुद्ध सुखकी उत्पत्ति होती है[1]। फिर भी उसने इसका विचार नहीं किया कि कलात्मक सुख यदि इन्द्रियजन्य संवेदनाओंसे विभिन्न है तो वह अन्य बौद्ध क्रियाओंसे किस प्रकार सम्बद्ध है ?

अरस्तूने इस समस्याका समाधान कलामें उपदेशात्मक तत्त्व मानकर करना चाहा। उसके सौन्दर्यमें श्रेय अनिवार्य रूपमें उपस्थित है। सौन्दर्य-शास्त्रमें उसने सौन्दर्यकी जो परिभाषा दी है उसमें शिव, सुन्दर और सुखद अभिन्न होकर स्थित हैं[2]। सौन्दर्यकी इस दृष्टिसे अभिभूत होकर अरस्तूने उपदेशात्मक या शिक्षात्मक प्रयोजन (एजूकेशनल इण्टरेस्ट) भी माना है।

---

1. Plato has a clear view of aesthetic as distinct from real interest only in so far as he recognises a peculiar satisfaction attending the very abstract menifestations of purely farmal beauty.

History of Aesthetic by Bosanpuet. P. 53

2. The beautiful is that good which is pleasant because it is good.

इस प्रकार उसने कलाको बौद्ध जगत्के अन्य क्रियाकलापोंके साथ उसका स्थान स्वीकार किया है।

उसने कलागत क्रियाओंका क्षेत्र अन्य ऐन्द्रिय कार्य-क्षेत्रोंसे पृथक् मानकर बौद्ध कार्यकलापोंके समीप अवस्थापित किया, परन्तु कला-जगत् और वास्तविक जगत्की विभिन्नताको स्वीकार न कर वस्तु-जगत्के मानोंको कला-जगत्के प्रतिमानोंके रूपमें गृहीत किया[1]।

तृतीय सिद्धान्त है कि कलाका सौन्दर्य अभिव्यञ्जना या रूप (फार्म) में ही है, अभिव्यङ्ग्य अथवा वस्तु (कण्टेण्ट) में नहीं। अतः क्रोचेके अभिव्यञ्जनावाद तथा "कला कलाके लिए है" आदि सिद्धान्तोंका बीजरूपसे प्रक्षेपण इन यूनानी दार्शनिकोंके समयसे हो गया था। अफलातूनने महाकाव्य, गीतकाव्य और त्रासद नाटकके तारतमिक विवेचनमें नाटकीय तत्त्वकी अल्पाधिक व्यवस्थाका मान स्वीकार किया था। यह नाटकीय तत्त्व, संसारकी साधारण क्रियाओंसे विभिन्न प्रभावोत्पादक अभिनय अथवा रूपमें ही गुम्फित माना गया है। अतः रूपके आधारपर कलाओंकी उच्चावच स्थिति माननेसे अफलातूनका कलामें वस्तुसे अधिक रूपका आग्रह प्रकट होता है। आगे चलकर अरस्तूने अपनी 'आईडियालाइजिङ्ग' प्रवृत्तिके कारण और भी अधिक रूपका आग्रह किया।

---

१. सदाचार और नीतिका प्रवेश भारतीय साहित्यशास्त्रमें औचित्यके विचारसे हुआ है। यहाँ रसधाराकी अक्षुण्णताके लिए अनौचित्यका परिहार किया गया—"अनौचित्याद् ऋते नान्यद्रसभङ्गस्य कारणम्", परन्तु यूनानी दार्शनिकोंने सौन्दर्यके कुरुचिपूर्ण प्रभाव (वेलफुल इन्फ्लूएंस) को हटानेके लिए सदाचारको कलाके ऊपर थोपा है। यह बात उनके नाटकोंमें अनुकरणके विकासको देखनेपर स्पष्ट हो जायगी। अन्यथा सामान्य रूपसे सुन्दर और शिव भारतमें प्रारम्भसे ही युगनद्ध हैं, ऋग्वेदकी ऋचाएँ इसे पुष्ट करेंगी। भाषाविज्ञानकी दृष्टिसे 'सुनर'में 'द्'व्यञ्जनके मध्यागमसे 'सुन्दर' शब्द निष्पन्न हुआ है। अतएव भारतके श्रेय और प्रेयमें विवादका विशेष स्थान नहीं।

इस दार्शनिक त्रयीके अनन्तर यूनानी सौन्दर्यशास्त्रकी विचारधारा अत्यन्त क्षीणरूपसे संशयवाद और भौतिकवादकी सैकतशय्यापर दिखाई देती है। सुख-दुःख-निरपेक्षवाद (स्टॉसिज्म), ऐन्द्रियसुखपरक आधिभौतिकवाद (एपीक्यूरिज्म) तथा संशयवाद (सेप्टीसिज्म) उस समयके प्रधान दार्शनिक सिद्धान्त थे। इन सिद्धान्तोंमें सौन्दर्यशास्त्रका महत्त्वपूर्ण स्थान नहीं था, और इसलिए इस विषयका कोई ग्रन्थ उपलब्ध नहीं होता। अतः यत्र-तत्र बिखरे हुए उनके विचारोंसे सौन्दर्यशास्त्र-सम्बन्धी व्यङ्ग्य-सिद्धान्तोंका उन्नयन करना पड़ता है। इस समयकी दूसरी विशेषता, कल्पनाकी यान्त्रिक (मैकेनिकल) दृष्टि, भावकी बौद्ध व्याख्या है। इससे शास्त्रके व्यवहारपरक विश्लेषणमें सौन्दर्य-सम्बन्धी विचारोंकी उत्पत्तिके लिए कोई स्थान नहीं रह गया था।

प्रसिद्ध विद्वान स्टाइल क्रिसिप्पसका कथन है कि "केवल विश्व पूर्ण है और मानव अपूर्ण, अतएव मानव अपनेको पूर्ण बनानेके लिए विश्व-प्रकृतिका चिन्तन तथा अनुकरण करता है[1]।" इस सिद्धान्तमें अफलातूनकी ही विचार-छाया मिलती है। एपीक्यूरियन फिलाडेल्यसके अनुसार "सङ्गीत एक बुद्धिविहीन क्रिया है। सङ्गीतका व्यापार पाकशास्त्रके तुल्य है[2]।" इस प्रकारके दार्शनिक वादोंमें कलाका कोई स्थान हो सकता है, इसकी सम्भावना भी अनुचित है।

---

1. The universe alone is perfeet "says Cicers, qur-oting Chrysippus, "man is not, though he has in him some particle of the perfect, and he is born to contemplate and imitate the universe"

History of Aesthetic page 100

2. "Music" writes philodemus, a contemporary of Cicers, "is irrational and cannot affect the soul or the emotions, and is no more an expressive art (lit. imitative) than cooking.

वही पृष्ठ १००—१०१

पश्चाद्वर्ती रोमी दार्शनिकोंसे फिरसे सौन्दयशास्त्रका उद्भव हुआ। आलङ्कारिक वक्तृताने उनको सौन्दर्य-सम्बन्धी विचारोंकी ओर उन्मुख किया। फलस्वरूप सिसरो लाङ्गीनस, प्लूटार्क आदि लेखकोंके विचार सौन्दर्यशास्त्रपर उपलब्ध होते हैं। इनमेंसे प्लूटार्कका विचार प्रस्तुत विषयकी दृष्टिसे सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है। उससे इस प्रश्नके उत्तरमें कि क्या वास्तविक संसारकी कुरूपता कलामें चित्रित होकर सुन्दर हो जाती है, अपने विचार कलाकृतिकी सत्ता और प्रयोजनके विषयमें व्यक्त किये हैं। उसका विचार है कि कुरूपताकी प्रतिकृति कभी सुन्दर नहीं हो सकती। कलाकृति केवल प्रकृतिकी अनुकृति है और इसलिए यदि कुरूपताका सौन्दर्यपूर्ण चित्रण हुआ तो वह सच्ची कलाकृति ही नहीं। सौन्दर्य और सुन्दर अनुकरण दो विभिन्न वस्तुएँ हैं (एकमें वस्तु ही सुन्दर है और दूसरेमें उसकी अभिव्यञ्जना)। हमें चित्रणके द्वारा सुख इसलिए प्राप्त होता है कि चित्रणमें चित्रितकी समानता लानेमें बुद्धिका कौशल निहित है[1]।

इस प्रकार प्लूटार्क यद्यपि कलाकी प्रातिबिम्बक सत्ता मानता हुआ दिखाई पड़ता है तथापि वह कलाकृतिको फोटोग्राफीके समान केवल प्रकृतिका प्रतिफलन नहीं स्वीकार करता। वह अनुकरणमें बुद्धिके विन्यासकी प्रधानताको मानता है।

ईसवी सन्‌की तृतीय शताब्दीमें प्लाटीनसने फिर यूनानी विचारधारामें प्रगति की। मध्यवर्ती लेखकोंमें जैसा कि प्लूटार्कके उपयुक्त विवेचनसे स्पष्ट होगा, कलाको साधारण प्रत्यक्षका प्रतिफलन न मानकर बौद्धिक तथ्योंकी

---

1. The picture of an ugly thing cannot be a beautiful picture if it were, it could not be suitable to or consistent with its original · · · · · Beauty · · · · · we abmire · · · · is because the artıcts cunning has an affinity for our intelligence.

वही पृष्ठ १०७

इन्द्रियगम्य रूपमें अभिव्यञ्जना माननेकी प्रवृत्ति हो रही थी। यह सिद्धान्त प्लाटीनसमें अपनी पूर्णताको किस प्रकार पहुँचा इसका विचार आगे किया जायगा।

सत्ता-विषयक यूनानी आध्यात्मिक सिद्धान्तके विकासको हम अरस्तूतक बता चुके हैं। प्लाटीनसने इसको आगे बढ़ाया। प्राचीन मनीषियोंके समान उसने यह तो माना कि अभिव्यञ्जना अभिव्यङ्ग्यसे और स्रष्टा सृष्टिसे उत्कृष्ट है, किन्तु अफलातूनके समान उसने इस विचारके आधारपर प्रकृतिसे कलाकृति-को हेय नहीं माना।

प्रकृति दिव्य विचारोंकी जड़ अभिव्यञ्जना है। किन्तु कलाकृति दृश्य प्रकृतिकी केवल अनुकृतिमात्र नहीं है, अपितु अदृश्य विचारोंका भी उसमें समावेश है। इस प्रकार प्रकृति और कलाकृति दोनों एक स्रोतसे निःसृत हैं और इसलिए कलाकृतिको अफलातूनके समान प्रकृतिसे हेय नहीं माना जा सकता।

प्रकृतिका सौन्दर्य कलाकृतिके सौन्दर्यके समान ही अदृश्य विचारोंकी दृश्य अभिव्यञ्जना है। अतएव कलाकृति प्रकृतिकी अनुकृति न होकर उन विचारोंकी प्रतीक व्यञ्जना है। सारांशमें, प्लाटीनसने प्रथमतः कलाकी प्रातिबिम्बिक सत्ता-को माननेसे अस्वीकार किया और कलाको अनुकृति न मानकर प्रतीक-व्यञ्जना माना।

सौन्दर्यको विचारकी व्यञ्जना मानकर प्लाटीनसने सौन्दर्य-सम्बन्धी नैतिक सिद्धान्त भी परिवर्तित कर दिया। पहले कलाको पाकविज्ञानके समान ही प्राकृत प्रयोजनपूर्ण मानकर बुद्धिजन्य माना गया था और कलागत सुखको चित्रणगत एवं बुद्धिजन्य माना गया था, किन्तु इस विचारने विचार और सौन्दर्यमें व्यङ्ग्यव्यञ्जकभाव स्वीकार कर उसको इन्द्रिय-संवेदनके क्षेत्रसे ऊपर उठाकर ज्ञानके क्षेत्रमें स्थापित किया। एतदर्थ उसका प्रयोजन भी प्राकृत कार्यों के समान इन्द्रियातीत सुख माना गया। इस दृष्टिसे कला और नीति सम-कोटिक हो गयी और फलतः कलासे नैतिक बन्धन भी दूर हो गया।

दार्शनिक त्रयीके अनुसार प्रत्यक्ष प्रकृतिकी छाया ही कलाकृति थी। अतः सुषमा (सिमिट्री) ही सौन्दर्य मानी गयी थी। इसीसे सौन्दर्यकी परिभाषा की गयी थी 'अनेकत्वमें एकत्वका विधान।' उदाहरणके लिए अनेक स्वरोंके रहते हुए भी उनके साम्यमें सङ्गीत-सौन्दर्य और पहलुओंके भिन्न होने-पर भी उनकी निर्मितिमें समानताको वास्तु-सौन्दर्य माना था। किन्तु प्लाटीनसने प्रत्यक्ष प्रकृति और कलाकृतिको बिम्ब-प्रतिबिम्बभावमें उपस्थित न मानकर दोनों-को एक ही स्रोतसे निस्सृत माना। अतएव सौन्दर्यकी सुषमात्मक रूपप्रधान दृष्टिमें भी परिवर्तन अनिवार्य हो गया। उसने सुन्दर वस्तुओंके भिन्न-भिन्न अवयवोंके संस्थानमें सौन्दर्य न मानकर विचारों और भावोंमें सौन्दर्यकी सत्ता स्वीकार की। यही सौन्दर्यसत्ता अपनी अभिव्यञ्जनाके लिए अङ्गोंके सुषम-संस्थानका अनिवार्य रूपसे चयन करती है। उसका कथन है कि किसी मनुष्यके चित्रणमें चित्रकारको उसकी आँखोंके चित्रणमें प्रवृत्त होना चाहिये, क्योंकि आँखोंके द्वारा ही उसकी भावभङ्गिमा व्यक्त होती है। अङ्गोंके सुषमसंस्थानमें उसके हृदयस्थ भावोंकी व्यञ्जना उतनी स्पष्ट नहीं हो सकती है[1]। इस प्रकार सौन्दर्यकी कल्पना सुषमतासे हटकर विचार-व्यञ्जनामें सङ्क्रमित होगयी। यह सिद्धान्त अफलातूनके सुषमात्मक रूपप्रधान सिद्धान्तसे अधिक प्रगतिपूर्ण है।

रोमी दार्शनिकोंके पश्चात् ईसाई मनीषियोंकी विचारधाराका प्राधान्य हुआ। यूनानी और रोमी दार्शनिकोंमें सांस्कृतिक साम्य था, किन्तु ईसाई संस्कृति इन दोनों संस्कृतियोंसे कुछ महत्त्वपूर्ण सिद्धान्तोंके कारण विभिन्न थी।

---

1. The portaitr–painter must aim specially at catching the look of the eye, as the mind reveals itself in it more than in the construction of body.

Schaslar i. 246

In "the history of the Aesthetic" by Bosanquet (p. 117)

यूनानियोंमें वस्तुतः ईश्वरसम्बन्धी और लोकेतर-सम्बद्ध विचारोंका सर्वथा अभाव था। पिण्डारका यह कथन यूनानी सिद्धान्तोंका उचित रीतिसे प्रतिनिधित्व करता है:—

"Two things alone there are to cherish life"s bloom to its utmost sweetness amid the fair flowers of wealth-to have good success and win therefore fair fame. Seek not to be a god ; if the portion of these honours fall to thee thou hast all."

रोमी संस्कृतिने आध्यात्मिक शक्तिको अपनाया तो, किन्तु केवल राजनीतिक दासताके लिए। रोममें, सर्वपल्ली राधाकृष्णन्के शब्दोंमें—"पूजन, आध्यात्मिक चिन्तन" एक नागरिक कर्तव्य अथवा सामाजिक उत्सव था जो सरकारी पुजारियोंके द्वारा सम्पन्न हुआ करता था [1]।

ईसाई संस्कृतिकी प्रमुख प्रवृत्तियाँ दो हैं—१. तर्ककी अप्रतिष्ठा और २. इतिहासकी आध्यात्मिक व्याख्या। प्रथमने यूनानकी तार्किक अतिसीमाकी रोकथाम की और द्वितीयने रहस्यवादी प्रवृत्तिका सर्जन किया। इन प्रवृत्तियोंका सौन्दर्यशास्त्रपर प्रत्यक्ष और परोक्ष दोनों रूपोंसे प्रभाव पड़ा।

सेण्ट थामस एक्वीनस इस विषयमें अपने युगका प्रतिनिधित्व करते हैं और इसलिए उनके विचारोंमें सौन्दर्यशास्त्रकी प्रवृत्तियोंका अन्वेषण अयुक्त न होगा।

प्लाटीनसने विचार(आईडिया)की अभिव्यञ्जनामें सौन्दर्यका स्थान स्वीकार किया था, किन्तु इन ईसाई दार्शनिकोंने विचारके स्थानपर ईश्वरको प्रतिष्ठित किया और माना कि ईश्वर ही सौन्दर्यकी वह अन्तःसलिला है जो निर्झरिणीके रूपमें निकलकर हम लोगोंको दृष्टिगोचर होती है। इस प्रकार अनुकरणका सिद्धान्त यहाँ ईश्वरत्वकी अभिव्यञ्जनामें परिणत हो गया।

---

1. "Worship was made a public duty or civil function carried out by official priesthood." Eastern religion and & western Thought.

सौन्दर्यको ईश्वरत्वकी अभिव्यञ्जना माननेपर उसको अन्य विषयके लिए किये गये इन्द्रियके व्यापारसे भिन्न माना गया। अन्य प्राकृत व्यापार इच्छाजन्य होते हैं और वे इच्छाओंको और भी उद्दीपित करते हैं। किन्तु यह व्यापार उन लोगोंके अनुसार न तो इच्छाजन्य है और न इच्छाओंको उद्दीपित ही करता है, अपितु इच्छाओंका शमन करता है। इस प्रकार सौन्दर्यका प्रयोजन प्राकृत कार्यके प्रयोजनोंसे सर्वथा विभिन्न माना गया। यद्यपि नीतिके बन्धनका भी इस रीतिसे निराकरण हो गया, तथापि वह उपयोगिताके रूपमें फिर स्वीकार कर लिया गया। "वर्जिल"में म्यूज (सरस्वती) कहती है कि "यदि ग्रामीण मेरे अन्तस्तत्त्वको ग्रहण करनेमें समर्थ न होंगे तो भी वे मेरे पूर्ण सौन्दर्यकी ओर अग्रसर होंगे। यदि तुम मुझसे ज्ञानप्राप्ति न कर सकोगे तो कमसे कम तुमको मुझसे सुख मिलेगा[1]।"

इस प्रकार सुन्दरता प्रथमतः आध्यात्मिक दृष्टिसे ईश्वरकी अभिव्यञ्जना मानी जाने लगी और दूसरे नीतिशास्त्रके अनुसार वह नीतिकी दासी न होकर उपयोगी ज्ञानसे परिणीत हो गयी।

जागर्तिकाल(रेनेसाँ)के पश्चात् आधुनिक युगका प्रारम्भ होता है। इस युगके सौन्दर्यशास्त्रकी समस्याएँ विभिन्न थीं। तर्क और विचारका पुनः प्राधान्य होनेसे सारी मानवीय क्रियाएँ उसके ही प्रतिमानसे नापी जाने लगीं और इस प्रतिमानमें प्रस्थानभेद होनेसे इस समयके दार्शनिकोंके दो वर्ग हो गये—एक वर्गने सामान्य (यूनिवर्सल) विचारोंको क्रमशः विशेष (इण्डिविजुअल) संवेदनतक पहुँचा दिया और उसके विश्लेषणपर सौन्दर्य-सम्बन्धी सिद्धान्तोंकी प्रतिष्ठाकी तथा दूसरेने विशेष संवेदनोंसे आगे बढ़कर उसके स्वरूपको समझनेकी चेष्टा की। इसलिए प्रथम वर्ग सामान्यवादी (यूनिवर्सलिस्ट)

---

1. If the vulgar be incapable of appreciating my inner meaning, then they shall at least incline their minds to the perfection of my beauty. If from me ye cannot gather wisdom at the least Shall ye enjoy me as a pleasant thing."

दूसरी महत्त्वपूर्ण बात है—सौन्दर्यमें, संवेदनीय तथ्योंमें पूर्णता मानना। पूर्णताका अर्थ वह समन्वित सम्बन्ध है जो पूर्ण वस्तु और उसके अंशोंमें रहता है। विभिन्न अंश सङ्कलित और समन्वित होकर पूर्ण वस्तुका विधान करते हैं। अंशोंके समन्वयके सिद्धान्तने फिर वही आध्यात्मिक सिद्धान्त-अनेकत्वमें एकत्व–का उपस्थापन किया।

लीबनिजके अनुसार पूर्णता इस विश्व-व्यवस्थामें दिखाई देती है, क्योंकि कलाकृति सौन्दर्यकी, संवेदनीय तथ्योंकी पूर्णताकी ओर उन्मुख है अतः वह विश्व-व्यवस्थाका अनिवार्य रूपसे अनुकरण करती है। इस प्रकार इस परम्परामें अनेकत्वमें एकत्वके सिद्धान्तके साथ ही साथ अनुकरणका सिद्धान्त भी आ गया। परन्तु इन दार्शनिकोंने इस आधारपर कला-जगत्को वस्तु-जगत्की छाया स्वीकार नहीं की। कला-जगत्में उस पूर्णताकी अभिव्यञ्जना होती है जिसे हम इस विश्व-व्यवस्थामें विद्यमान पाते हैं। इसलिए एक जगत् दूसरेकी छाया नहीं, प्रत्युत दोनों उसी पूर्णताकी अभिव्यञ्जनायें हैं। किन्तु प्रस्तुत निबन्धके लिए सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण विचार बामगार्टनका सत्ता विषयक विचार है। उसने अपने संवेदनीय तथ्योंको न तो भ्रम ही माना और न सत्य ही। वे सत्यके समान (Verisimilar) ही हैं—वे सत्याभास हैं।

दूसरी परम्परा विशेषवादियोंकी, आङ्ग्ल दार्शनिकोंकी थी जिनमें बेकन, शेफ्ट्सबरी और बर्कले प्रमुख हैं। बर्कलेने अरस्तूके "केथार्सिस"को, रेचक सिद्धान्त–'पर्गेशन थ्योरी'का रूप दिया "कला सूक्ष्मभावोंका व्यायाम है", क्योंकि "उसके द्वारा संचित भावोंका रेचन हो जाता है और फलस्वरूप आनन्दकी प्राप्ति होती है[१]"

उसका अन्य महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त है— कुरूपताका उच्चता (सब्लमिटी) में और दुःख (पेन) का प्रसन्नता (डिलाइट) में अन्तर्भाव। उसके अनुसार कुरूपता यद्यपि सौन्दर्यका विरोधी तत्त्व है, तथापि उसका समाहार उच्चतामें

1. "Exercise necessry for the finer emotions" (Sublime & Beautiful)

हो जाता है और उच्चता ही कलाके द्वारा चित्रणीय है। इस तरह दुःख यद्यपि सुख (प्लेजर) का विरोधी भाव है तथापि प्रसन्नतामें उसका स्थान है। बड़ेसे बड़े त्रासद नाटकोंमें सामाजिक उन अभिनीत दुःखपूर्ण घटनाओंसे प्रसन्नता प्राप्त करता है जिनको प्रकृत जगत्में वह देखना भी पसन्द नहीं करेगा। बर्कलेकी इस उपस्थापनाने आगे आनेवालोंके लिए वह भूमि प्रस्तुत कर दी जिसपर कला-जगत्के सर्वथा भिन्न अस्तित्वके प्रतिपादनका प्रयत्न हुआ। यदि कला-जगत्का दुःख हमें प्रसन्नता देता है तो कला-जगत् प्रकृत जगत्के सिद्धान्तोंसे परिचालित नहीं किया जा सकता। उसका भिन्न अस्तित्व स्वीकार करना पड़ेगा।

इसके पहले कि हम अवान्तर-कालीन प्राक्काण्टीय दार्शनिकोंकी विवेचना करें, इटलीनिवासी ग्याम्बटिट्स्टा वीसोके विचारोंका सङ्क्षिप्त वर्णन आवश्यक प्रतीत होता है। यद्यपि सौन्दर्यशास्त्रके इतिहासोंमें इसके सिद्धान्तोंकी विवेचना नहीं हुई है, तथापि क्रोचेके विचारसाम्य तथा अपनी मौलिक सूझके कारण वह प्रस्तुत निबन्धमें उल्लेख्य है।

वीसोका सबसे महत्त्वपूर्ण कार्य कला और शास्त्रका स्पष्ट विभाजन है। कलाका स्थान भावके पश्चात् और विचारके पहिले है। कला कल्पना-प्रधान है एवं शास्त्र और दर्शन विचार-प्रधान। कल्पना विचारसे विभिन्न तथा स्वतन्त्र है। वीसोका कथन है—"अन्वीक्षणके पहले अनुभूति है, उसके बाद स्पन्दित आत्मा द्वारा अन्वीक्षण और इसके अनन्तर शुद्ध तर्कके द्वारा मनन[1]।" इस प्रकार वीसोने कला तथा दर्शनके क्षेत्रोंको अत्यन्त स्पष्टतासे विभक्त किया है। इतना ही नहीं, उसने इसके आगे माना है कि संवेदन, भाव और कल्पनासे सम्बद्ध होनेके कारण कला जितनी अधिक विशेषके समीप जायेगी उतनी ही उज्ज्वल और स्वरूपवती होती जायेगी, ठीक उसी प्रकार जैसे तर्क, सामान्यकी ओर बढ़नेपर होता है।

---

1. Men feel before observing, then they observe with perturbation of soul, finally they reflect with pure reason.

(Historical Summary, Aesthetic, P. 278)

वीसोके इन सिद्धान्तोंमें हम क्रोचेकी पूरी विचार-व्यवस्था सूक्ष्म रूपसे पाते हैं। उसने क्रोचेके समान कल्पनाकी निर्माणात्मक शक्तिको समझा तथा कलाको विशेषके साथ ही सम्बद्ध किया।

काण्टके पहले जर्मनीमें लेसिङ्ग और विङ्केलमनका काल आता है। लेसिङ्ग के दो सिद्धान्त इस अध्ययनके लिए द्रष्टव्य हैं। प्रथमतः यूनानी विचारोंसे प्रभावित इस दार्शनिकने कालकृतिके तथ्यको सत्याभासके रूपमें, जैसा कि बामगार्टन तथा अन्य फ्रांसीसी दार्शनिक मानते थे, माननेसे अस्वीकार कर दिया। कलाकृतिका तथ्य, उसके अनुसार, शुद्ध प्राकृतिक साम्य है। जब हम यह देखते हैं कि उसने सौन्दर्यकी परिभाषा भी सङ्कुचितकर केवल दृश्य सौन्दर्यमें ही उसको सीमित कर दिया तब यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि उसने अफलातूनके समान ही कला जगत्को प्रकृत-जगत्की अनुकृति अथवा छाया ही समझी।

उसने रेचन-सिद्धान्तकी भी अपनी व्याख्या की। उसके मतमें भावोंका नीतिपूर्ण विचार भङ्गिमा (Virtuous disposition) में परिणमन ही रेचन है। काव्यका लक्ष्य नीति अथवा श्रेयके प्रति प्रेम उत्पन्न करना है—इस सिद्धान्तसे उसने कलाकृतियोंको सप्रयोजन माना।

काण्टके ग्रन्थ (Critique of the Power of Judgment) की रचना सौन्दर्यशास्त्रके इतिहासमें एक महत्त्वपूर्ण घटना है। उसकी महत्त्वपूर्ण देन है—सौन्दर्य-चेतनाका, ज्ञान (intelligence) ऐन्द्रिय-सुख (Sensuous gratification) और नैतिक-सन्तोष (moral satisfaction) से अलग अस्तित्व स्थापित करना।

ऊपर विचारवाद और संवेदनवादका उल्लेख हुआ है। विचारवादी कलागत तथ्योंकी विचारपरक व्याख्या करते थे और संवेदनवादी उनकी संवेदनके रूपमें ही परिगणना करते थे। काण्टने इन दोनों मतोंको अस्वीकार किया। उसने निषेध-शैलीमें सौन्दर्यकी व्याख्या की कि १. सौन्दर्य विना प्रमेयोंके ही सुखकर है (Beauty pleases withont concept) एवं २. सौन्दर्य विना ऐन्द्रिय सुखके ही आनन्दप्रद है (Beauty pleases without interest)। प्रथम निषेधात्मक सिद्धान्तने लीबनिज़की विचारात्मक व्याख्याका खण्डन किया, द्वितीयने बर्कले आदि आंग्ल दार्शनिकोंकी संवेदनपरक परिभाषाकी आलोचना की।

इसके अतिरिक्त काण्टने सौन्दर्यकी विधिपूर्ण व्याख्या भी की है। उसके अनुसार १. सौन्दर्य निष्प्रयोजन रहते हुए भी पूर्ण है तथा[1] २. वह सामान्य सुखकी वस्तु है[2]।

इन चार सिद्धान्तवाक्योंके सहारे उसने सुन्दरको सुखद, श्रेयस्कर और ज्ञानसे पृथक् कर दिया। उसके अनुसार सुन्दरका गुण, मात्रा और सम्बन्धके कारण सुखद एवं श्रेयस्करसे भिन्न है। सुन्दर प्रयोजनरहित सुख है। प्रयोजनका तात्पर्य किसी प्राप्तव्य वस्तुकी सत्ताके विचारसे है। इस परिभाषाके कारण सुन्दर सुखद और श्रेयस्करसे विभिन्न हो गया, क्योंकि सुखदके विचारमें ऐन्द्रिय सुखका प्रयोजन निहित था और श्रेयस्करके सम्बन्धमें नीतिका विचार। इस प्रकार गुणकी दृष्टिसे सुन्दर सुखद और श्रेयस्करसे पृथक् सिद्ध हुआ। मात्राके विचारसे भी सुन्दर इनसे पृथक् है। सौन्दर्यनिहित सुख सामान्य तथा प्रमाण निरपेक्ष होता है। सुखद वस्तुका सुख विशेष होता है। उदाहरणार्थ किसी पुरुषको व्यञ्जनोंमें गुलाबजामुन अच्छा लगता है और किसीको मोदक। इस ऐन्द्रिय सुखमें सामान्यत्व उस रूपमें नहीं होता है। दूसरी ओर श्रेयस्करका सुख प्रमाण सापेक्ष होता है। सम्बन्धकी दृष्टिसे 'सौन्दर्य निरुद्देश्य प्रजोजन है' इस वाक्यकी स्पष्टताके लिए इसकी व्याख्या काण्टके ही शब्दोंमें दी जा रही है—

"So there is absolutely no immediate pleasure in the perception of them (in stone instruments found in the ancient cites) But a flower, for instance a tulip, is considered beautiful, because, a certain purposiveness is found in the perception of

---

1. "That is beautiful which has the form of finality without the representation of an end.
2. That is beautiful which is the object of universal pleasure,

it, which is not within our act of judging, referred to any end"[1]

अर्थात् प्राचीन स्थानोंपर प्राप्त शिल्पी द्वारा रचित पाषाणनिर्मित यन्त्रो-को देखनेसे सद्यः सुख नहीं प्राप्त होता है, किन्तु कोई भी पुष्प, उदाहरणार्थ गुलाब, सुन्दर माना जाता है, क्योंकि उसके देखनेमें प्रयोजन तो है, किन्तु यह प्रयोजन (इण्टरेस्ट) सोद्देश्य (एम) नहीं है । श्रेयस्कर तथा सुखद वस्तुओंका प्रयोजन सोद्देश्य रहता है । शिल्पी द्वारा रचित उपर्युदाहृत यन्त्रोंके दर्शनके कुछ उद्देश्य निहित हैं । यह निरुद्देश्य प्रयोजन सुन्दरको सुखद और श्रेयस्कर-से पृथक् करता है ।

सम्प्रति, काण्टके दर्शनको पूर्ण रीतिसे समझनेके लिए उन्हींकी आध्यात्मिक नैतिक एवं सौन्दर्यपरक–इन तीनों दृष्टियोंसे उसका सङ्क्षिप्त विवरण उपस्थित किया जाता है । लीवनिज़के कारण जो कला फिरसे प्रत्यक्ष प्रकृतिका एक हीन अंश मानी जाती थी और जो सत्ताके विचारसे छाया मात्र थी एवं उपयो-गिताकी दृष्टिसे हेय थी वही काण्टके दर्शनमें प्रकृतिसे भी अधिक गौरवपूर्ण तथा प्रकृतिकी सहयोगिनीके रूपमें अवतरित हुई । अनुकृतिका सिद्धान्त हटाकर प्रतीक-व्यञ्जनाकी स्थापना हुई ।

नैतिक अलोचनाके क्षेत्रमें तत्कालीन प्रचलित प्रकृत प्रयोजन और सौन्दर्य-परक प्रयोजनके मतभेदको हटा दिया गया । जब यह निश्चित हो गया कि सौन्दर्य संवेदन और प्रमेय दोनोंसे भिन्न है तो वे नीतिबन्धन जो संवेदनीय अथवा ऐन्द्रिय सुखकी क्रियाओंका परिचालन करते थे, स्वभावतः कलाकृतिके ऊपरसे हटा लिये गये तथा 'अनेकत्वमें एकत्व'के सिद्धान्तके स्थानपर सौन्दर्य-को व्यञ्जना (एक्सप्रेसिवनेस) एवं चरित्राङ्कन (कैरेक्टेराइजेशन)के रूपमें ग्रहण किया गया । इस प्रकार काण्टने सौन्दर्यशास्त्र-सम्बन्धी विचारोंमें पर्याप्त प्रगति की । क्रोचेने काण्टकी आलोचना करते हुए लिखा है कि काण्टने इतिहास और कलाके सम्बन्धको स्पष्ट नहीं किया तथा उसने कल्पनाको मानस व्यापारके रूपमें नहीं माना । इसी चीज को क्रोचेने पूरा किया ।

1. Kant (quoted by Bosanquet. History of Aesthetic P. 265–266).

क्रोचेके दर्शनको हेगेलकी द्वन्द्वात्मक प्रक्रियाने सर्वाधिक प्रभावित किया। सौन्दर्यशास्त्र-सम्बन्धी अन्य व्याख्याएँ न तो क्रोचेको मान्य हैं और न उनका प्रभाव ही विशेष रूपसे उसपर लक्षित होता है। द्वन्द्वात्मक प्रक्रिया-को क्रोचेने कुछ परिवर्तनके साथ ग्रहण कर लिया है। इसलिए यहाँ उसका विवरण दिया जाता है। हेगलके अतिरिक्त इस क्षेत्रमें अन्य दार्शनिक भी हुए हैं, पर अनपेक्षित कथनमात्र होनेसे उनका विवरण नहीं दिया जाता है।

प्रत्येक प्रमेय (कन्सेप्ट) दो द्वन्द्वात्मक तथ्योंकी एकता है। ये तथ्य अलग-अलग होनेपर एक दूसरेके अभाव मात्र हैं, किन्तु एककी उपस्थिति दूसरेकी अनिवार्य सत्ताका समर्थन करती है। हेगेलने प्रथमका नाम वाद (थीसिस) रखा तथा द्वितीयका नाम प्रतिवाद (ऐण्टीथीसिस)। इन दोनोंका समन्वय संवाद (सिन्थीसिस) में होता है। संवाद फिर वादके रूपमें उपस्थित होता है और वाद प्रतिवादके रूपमें। ये फिर संवादका रूप धारण करते हैं। यह प्रक्रिया इसी प्रकार चला करती है जबतक कि वादरूपसे कला, प्रतिवादरूपसे धर्म और संवादरूपसे दर्शन नहीं आ जाते।

हेगेलके दर्शनमें कला, धर्म और दर्शन-आत्ममुक्तिके तीन क्रमिक सोपान हैं। कला प्रथम सोपान है और प्रत्यक्ष इन्द्रिजन्य तथा जड़ात्मक ज्ञान है[1]। दूसरा स्थान धर्मका है। इसमें क्रियाशील चेतनता (कान्सस्नेस) तथा भक्ति (एडोरेशन) का समावेश है। तीसरा स्थान दर्शनका है जिसमें शुद्ध चेतनाका विचार किया जाता है। सौन्दर्य और सत्य, हेगेलके लिए, 'आईडिया'के दो स्वरूप हैं। अतः उसने सुन्दरकी परिभाषा की है,—आईडियाका संवेदनीय प्रकाशन। इस प्रकार हम देखते है कि हेगेलने यद्यपि कलाको शुद्ध चेतनाकी क्रिया माना है, तथापि उसकी कोटि दर्शन और धर्मसे निम्न है।

क्रोचेने इस द्वन्द्वको अंशरूपसे स्वीकार किया। उसने काण्ट, वीसो और हेगेलकी परम्पराको आगे बढ़ाया। वीसोके अनुसार उसने कल्पनामें निर्माणात्मक

---

1. It represents immediate, sensible, objectified knowledge.
(Historical Summary in Aesthetic, P. 306)

शक्ति मानी और कलाको सामान्य न मानकर विशेष माना, काण्टका कला और शास्त्रोंका विभाजन स्वीकार कर इतिहासका सम्बन्ध सुस्पष्ट किया। हेगेलके द्वन्द्वात्मक विधानमें उसने स्पष्ट प्रमेय (distinct Concept) के सिद्धान्त को मानकर वाद, प्रतिवाद और संवादकी त्रयी हटा दी और उसके स्थानपर ज्ञानपक्ष तथा कर्मपक्षके युग्मकको स्वीकार किया।

विशेष ज्ञान अथवा कला, सामान्य ज्ञान अथवा दर्शन, विशेष कर्म अथवा योगक्षेमोन्मुख क्रियायें एवं सामान्य कर्म अथवा आचारपरक क्रियाओंके द्विविध युग्मक क्रोचेके दर्शनकी मूलभित्ति हैं। किन्तु उसका क्रान्तिकारी सिद्धान्त स्वयंप्रकाश्यके स्वरूपके सम्बन्धमें है जो अगले प्रकरणमें व्याख्यात्मक ढङ्ग से प्रस्तुत किया जायगा।

स्वयंप्रकाश्यज्ञान तथा अभिव्यञ्जना

मानस दर्शनमें मनकी कल्पना व्यापाररूपमें ही है। व्यापार भी दो प्रकारका माना गया है—प्रथम है ज्ञान तथा द्वितीय क्रिया या सङ्कल्प। ज्ञानात्मक

---

१. स्वयंप्रकाश्य ज्ञान इण्ट्यूशनका पर्याय है, इण्ट्यूशनको हम स्वयंप्रकाश नहीं कह सकते, क्योंकि मनके जिस व्यापारसे इसकी उत्पत्ति होती है वह द्रव्यके उपस्थिति-कालमें ही आरम्भ होता है—द्रव्य ही उसे प्रकाशित करता है, अतः वह प्रकाश्य है न कि प्रकाशस्वरूप। वस्तुतः वेदांतियोंके आत्माकी भाँति नित्य प्रकाशमान तथा सामने आये हुओंका प्रकाशक तत्त्व, यह क्रोचेका मना नहीं है। इस इण्ट्यूशनको प्रातिभज्ञान भी नहीं कह सकते, क्योंकि—

बुद्धिस्तात्कालिकी ज्ञेया मतिरागमिदर्शिका।
प्रज्ञानवनवोन्मेषशालिनी प्रतिभा मता॥ (भट्टतौत)

सेण्टयूशनके रङ्ग भरनेवाले अवथा कल्पनात्मक पक्षका ही ग्रहण होता है, सो भी अभिव्यंजितका। अनभिव्यंजित पक्षसे प्रतिभाका कोई भी सम्बन्ध नहीं जोड़ा जा सकता। साथ हो 'ये घट, आदि हैं' इत्या-

व्यापार मनका प्रथम तथा सैद्धान्तिक व्यापार है और सङ्कल्पात्मक या क्रियात्मक व्यापार उसीका व्यवहारपक्ष, अतः ज्ञानात्मक व्यापारपर क्रियात्मक व्यापार अवलम्बित है, परन्तु क्रियात्मकव्यापार पर ज्ञानात्मक व्यापार आश्रित नहीं।

भारतीय दर्शनोंमें इस सृष्टिके पाञ्चभौतिक पदार्थोंका ज्ञान प्राप्त करनेके लिए पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ प्रथम साधन मानी गयी हैं, किन्तु यदि इन इन्द्रियोंको मनका सहयोग न प्राप्त हो तो ज्ञानकी न तो उत्पत्ति हो सकती है और न क्रियाकी निष्पत्ति ही। प्रायः ऐसा देखा जाता है कि किसीके सामनेसे कोई चला गया, पर उस व्यक्तिको जानेवालेका पता नहीं चलता। क्यों? चक्षु इन्द्रियसे मनका सम्बन्ध न होना ही इसमें कारण है। लोकमान्य तिलकका दृष्टान्त है कि बारह बजे जब घन्टोंकी ध्वनि होने लगती है तब एकदम हमें यह पता नहीं चलता कि कितने बजे हैं, प्रत्युत घड़ीकी 'टन-टन' ध्वनि एक-एक करके पवन-प्रवेगोंसे कानोंपर टक्कर मारती है। फिर मज्जातन्तुओंकी प्रत्येक ध्वनिका हमारे मनपर अलग अलग संस्कार होता है। तदनन्तर हम

कारक प्रत्यक्षजन्य बोधका तथा 'आनुमानिक शैली'—"सिलाजिज्ममें न बँधनेवाले सत्यको स्वयंप्रकाश्य का विषय बनाओ" इस प्रकारकी लौकिक अनुभूतिका, इण्ट्यूशनको प्रातिभ ज्ञान कहनेसे व्यवच्छेद हो जायगा। इण्ट्यूशनको सहजानुभूति कहनेसे, उक्त अर्थोंका, क्रोचेके दर्शन-पक्षका, ठीक-ठीक भावबोध न हो सकेगा।

अतः स्वयंप्रकाश्य शब्द सर्वाधिक उपयुक्त प्रतीत होता है। यद्यपि यह सत्य है कि व्याकरणकी दृष्टिसे स्वयंप्रकाश्य शब्द अपशब्द है, वह उस अर्थका वहन अपने मूल रूपमें नहीं कर पा रहा है, तथापि क्रोचे इस तत्त्वको स्वयंप्रकाश मानते हुए भी जो द्रव्योंके सान्निध्यकी कल्पना करते हैं उस असङ्गतिका द्योतक करनेके लिए इससे बढ़कर सुन्दर शब्द अभीतक हमें नहीं मिल सका।

एक्सप्रेशनके लिए अभिव्यञ्जना या अभिव्यक्ति शब्द आ सकते हैं, परन्तु अलङ्कारशास्त्रमें प्रथम शब्द पूर्व से ही नियन्त्रित है अतः एक्सप्रेशनके लिए अभिव्यञ्जना कहना अधिक उपयुक्त होगा।

इनको जोड़कर निश्चय करते हैं कि बारह बजे हैं। पशुओंमें भी इन संस्कारों तकका क्रम रहता है, पर मनकी एकीकरणात्मकवृत्ति अविकसित रहने के कारण ज्ञान नहीं होता। अतः विकसित मनकी प्रथम वृत्ति ज्ञान है जिसमें सारासारविवेकके अनुसार यह निश्चय किया जाता है कि अमुक वस्तु ग्राह्य है तथा अमुक त्याज्य। इसके पश्चात् इच्छावृत्तिका उदय होता है। अन्तमें ग्राह्य वस्तुको प्राप्त करने तथा त्याज्यको छोड़नेकी इच्छाके अनुसार प्रवृत्तिका होना मनकी क्रियावृत्ति कहलाती है। इसी वृत्तिको मनकी व्याकरणात्मक वृत्ति भी कहते हैं। इस प्रकार मनकी वृत्तियोंका क्रम है। "पूर्वं जानाति, ततः इच्छति, ततो यतते" नैयायिकों द्वारा निर्धारित मनकी इन वृत्तियोंको इसी क्रम-से पाश्चात्य मनोविज्ञान भी स्वीकार करता है—नोइङ्गयाकोगनिशन, फीलिङ्ग अथवा कोनेशन, विलिङ्ग या टेण्डेंसी। ज्ञानात्मक वृत्तिको क्रोचेने भी मनका प्रथम व्यापार माना है, परन्तु अन्तिम दोनों इच्छात्मक एवं क्रियात्मक वृत्तियों-को मिलाकर सङ्कल्पात्मक या क्रियात्मक व्यापार कहा है जो सदा ज्ञानात्मक व्यापारपर आश्रित रहता है। परन्तु न्याय तथा साङ्ख्य आदि दर्शनोंमें जहाँ मनके व्यापारोंकी चर्चा है वहाँ वे व्यापार मनसे अतिरिक्त किसी जीव या पुरुषके सन्निधान अथवा साक्ष्यमें सम्पन्न होते हैं। संसारमें हम देखते हैं कि कोई भी व्यापार बिना व्यापारयिता–नियन्ताके नहीं चलता, किन्तु क्रोचेने चेतन अथवा मनको व्यापाररूप ही कल्पित किया है—बिना किसीके सन्निधान या साक्ष्यकी अपेक्षाके। वैसे तो द्रव्य प्रेरक कहा जा सकता है और विवेचनमें कहा भी जायगा, परन्तु चेतनका नियमन जड़ करे यह कैसे सम्भव है ?

अस्तु; क्रोचेके अनुसार ऊपर जिस ज्ञानकी विवेचना की गयी वह संसारमें उत्पत्ति-विनाशशील कहा जाता है तथा वृत्यात्मक है। वेदान्तकी दृष्टिमें यह अन्तःकरणका एक धर्म है। इससे आत्मलक्षणज्ञानकी भिन्नता भी समझ लेनी चाहिये जिससे 'माइण्ड' या 'स्पिरिट'का आत्मासे पार्थक्य, मनसे संवादित्व एवं वृत्तिमें ज्ञानके औपचारिक व्यवहारकी स्पष्टता हो जायगी। वेदान्तकी दृष्टिमें आत्मा सर्वत्र व्याप्त है। ज्ञान इसका नित्य लक्षण होनेसे ज्ञान भी सर्वव्यापी हुआ। आत्मा नित्य है, अतः ज्ञान भी नित्य हुआ। परन्तु लौकिक ज्ञान सीमित

होनेके कारण एकदेशव्यापी एवं अनित्य होते हैं। वस्तुतः लौकिक ज्ञानमें ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेयकी त्रिपुटी सदैव वर्तमान रहती है। वेदान्तमें चेतन-आत्माके सर्वत्र प्रसरित रहनेके कारण ज्ञाता अन्तःकरणावच्छिन्न चैतन्य, ज्ञेय विषयावच्छिन्न चैतन्य एवं ज्ञान वृत्यवच्छिन्न चैतन्य कहलाता है। जिस प्रकार मठाकाशमें रखे घड़ेका आकाश तदभिन्न ही रह जाता है–उपाधियों (मठ तथा घट) की एकदेशस्थतासे उपधेय (आकाश) में भी एकरूपता आ जाती है उसी प्रकार जिस समय वृत्यवच्छिन्न चैतन्य इन्द्रियोंकी मध्यस्थतासे विषयावच्छिन्नचैतन्यसे तादात्म्य प्राप्त करता है उस समय हम वृत्तिमें प्रत्यक्ष ज्ञानका व्यवहार करते हैं। तात्पर्य यह है कि वृत्ति स्वयं ज्ञानलक्षण नहीं है, अपितु वृत्तिमें चैतन्य ज्ञानका आरोप हो जाता है तथा इन्द्रियोंसे सम्बन्ध होनेके फलस्वरूप वही वृत्ति प्रत्यक्ष भी कही जाती है। अतएव क्रोचेका मन वेदान्तकल्पित मनसे इस विशेषताके साथ मिलता है कि उसमें ज्ञान तथा चैतन्यका औपचारिक सम्बन्ध नहीं है। यदि आत्मासे उसका साम्य बैठाया जाय तो अनेक अवच्छेदकोंसे मनको नियन्त्रित करना पड़ेगा। अस्तु-जिस ज्ञानात्मक व्यापारसे मनुष्यको ज्ञानोपलब्धि होती है, क्रोचेके अनुसार उसके दो रूप होते हैं—पहला स्वयंप्रकाश्य अथवा कल्पनाजन्य तथा दूसरा प्रमेय या बुद्धि-व्यवसाय-सिद्ध। इन्हींको क्रमशः व्यक्तिका ज्ञान या किसी विशिष्ट वस्तुका ज्ञान, और जातिका ज्ञान अथवा विविध वस्तुओंके परस्पर सम्बन्धका ज्ञान कहते हैं। वस्तुतः पहले प्रकारका ज्ञान मूर्तियोंका विधान करता है और दूसरे प्रकारका ज्ञान विचारोंका सर्जन।

व्यावहारिक जीवनमें स्वयंप्रकाश्यकी उपादेयता और महत्ता स्वयं सिद्ध है। प्रायः लोग ऐसा कहते हुए सुने जाते हैं कि अमुक सत्यकी अभिव्यञ्जना आनुमानिक शैलियों (सिलाजिज्म) में नहीं हो सकती। अतः उनकी प्रतीतिके लिये स्वयंप्रकाश्य ज्ञान एकमात्र उपाय है। अध्यापक अपने विद्यार्थियोंमें इसी शक्तिके उन्मेषपर सर्वप्रथम ध्यान देते हैं और आलोचक किसी कलाकृतिकी समीक्षा करते समय शास्त्रीय सिद्धान्तों एवं भावात्मक विचारोंको एक ओर रखकर स्वयंप्रकाश्यका सहारा लेना इसीलिए अधिक गौरवसपद मानते

है। यही कारण है कि व्यवहारपटु मनुष्य प्रमेयोंकी अपेक्षा स्वयम्प्रकाश्योंसे परिचालित होना अधिक पसन्द करता है।

किन्तु व्यावहारिक जीवनमें स्वयम्प्रकाश्यका जो महत्त्व है वह सैद्धान्तिक एवं दार्शनिक क्षेत्रोंमें मान्य नहीं। इस क्षेत्रमें अत्यन्त प्राचीन कालसे ज्ञान-की वह सर्वमान्य शाखा प्रचलित है जिसे तर्कशास्त्र या आन्वीक्षिकी विद्या कहते हैं। यदि इस क्षेत्रमें स्वयम्प्रकाश्यकी कुछ चर्चा है भी तो वह अत्यल्प समर्थकोंके सन्निधानमें बहुत ही दबी हुई है। अधिकांश लोगोंका तो यह दावा है कि प्रमेयज्ञानके आलोकसे रहित भला यह स्वयम्प्रकाश्य ज्ञान है क्या वस्तु? ये लोग स्वयम्प्रकाश्यको दृष्टि-विरहित-ज्ञान मानते हैं। वे कहते हैं कि उसे प्रमेयसे ही दृष्टि-दान मिलता है।

इन लोगोंके विरोधमें क्रोचेने स्वयम्प्रकाश्य ज्ञानको स्वीकार किया है, और स्वतन्त्र ज्ञानके रूपमें स्वीकार किया है। उसे न तो किसीके आलोकसे अलो-कित होनेकी आवश्यकता है और न किसी प्रमेयसे दृष्टि-दान लेनेकी अपेक्षा। वह तो स्वयं दिव्यदृष्टि-सम्पन्न है। दूसरेकी आँखोंमें उसे देख सकनेकी सामर्थ्य नहीं। अपने अन्तश्चक्षुओंसे ही उसका रूपबोध होता है। यह सम्भव है कि बहुतसे स्वयम्प्रकाश्योंमें प्रमेय अनुस्यूत मिलें, पर साथ ही ऐसे अनेक स्वय-म्प्रकाश्य भी मिलेंगे जिनमें किसी प्रकारका सम्मिश्रण नहीं मिलता। जब छिटकी हुई शरच्चन्द्रिकाका अवलोकन करते ही किसी चित्रकारकी मानस-कालका प्रस्फुटित हो उठती है अथवा वर्षाके आरम्भमें क्षितिजपर घुमड़-घुमड़कर उठनेवाली कादम्बिनीको देखकर प्रमत्त मन-मयूर नर्तन करने लगते है तथा क्षण-क्षणपर कौंधनेवाली विद्युच्छटाके साथ ही विरहिणी ललनाओंके हृदय-में हूकें उठने लगती हैं या विहागकी मधुर तान सुनकर संयोगियोंके मन द्रवित होने लगते हैं तब ऐसे स्वयम्प्रकाश्योंमें प्रमेयकी छायातक स्पर्श नहीं करती। फिर भी यदि मान लिया जाय कि सभ्य जीवनके स्वयम्प्रकाश्योंमें प्रमेय अन्तर्भुक्त रहा करते हैं, तो यह विचारणीय हो जाता है कि ऐसी दशा-में वे अपना रूप क्या अक्षुण्ण रख सकते हैं? क्रोचेका उत्तर है कदापि नहीं। ऐसे प्रमेय प्रमेय नहीं रह जाते। वे स्वम्प्रकाश्यके एक उपदानमात्र

रह जाते हैं। स्वयम्प्रकाश्यमें प्रविष्ट होते ही उनकी स्वतन्त्र प्रतिष्ठा नहीं रह सकती। उसमें मिलकर वे निःशेष हो जाते है। वस्तुतः यह सम्मिश्रण तिल-तण्डुलवत् न होकर नीरक्षीरवत् होता है। आलङ्कारिक क्रमशः इनको संसृष्टि और सङ्कर कहते हैं। अतः प्रमेयगर्भ स्वयम्प्रकाश्योंको हम सङ्कर सम्मिश्रण-वाला कह सकते हैं। इस सम्मिश्रण-वैचित्र्यके कारण ही त्रासद (ट्रैजिडी) या कामद (कामेडी) काव्यके पात्रों द्वारा कही गयी सैद्धान्तिक उक्तियोंको हम सिद्धान्त-निरूपणके रूपमें न स्वीकार करके उसे वक्ताके चरित्रके रूपमें स्वीकार करते हैं। जैसे रामचरितमानसमें अनेक अवसरोंपर किसीके विषयमें कुछ न कुछ गया है। समुद्र मर्याद पुरुषोत्तम श्रीरामचन्द्रजी-से जब कहता है कि 'ढोल गवाँर सूद्र पशु नारी। ये सब ताड़नके अधिकारी' तब इससे उसके प्रकृत चरित्रकी जड़ता तथा अवसरप्राप्त भयजन्य दीनताका ही प्रकाशन होता है। यदि इसे कोई सिद्धान्तवाक्यके रूपमें ग्रहण करके यह अर्थ लेने लगे कि ढोलकी भाँति स्त्रियाँ भी ठठाई जाकर चमत्कारिणी होती हैं तो सामान्य रूपसे किसी भी व्यक्तिको व्याख्याकारकी बुद्धिपर सन्देह होना स्वाभाविक है। प्रायः इसी प्रकार काव्यमें आनेवाली उक्तियोंका चारित्र्यपरक अर्थ हो जाया करता है। एवं यदि चित्रका कोई स्थल किसी रङ्गसे रँगा हो तो हम उस रङ्गको भौतिक विज्ञानकी दृष्टिसे न देखकर चित्रकलाके विविध उपादानोंमें एक मानेंगे। इसी तरह यदि किसी कलाकृतिका अधिकांश भाग दार्शनिक प्रमेयोंसे भरा हो, और कल्पना कीजिये कि उन प्रमेयोंकी सूक्ष्मता भी किसी दार्शनिक ग्रन्थके समान ही हो, तो क्या वह कृति शास्त्रीय या वैज्ञानिक कही जायगी? कभी नहीं। जैसे—

विषमताकी पीड़ासे व्यस्त,
हो रहा स्पन्दित विश्व महान।
यही दुख-सुख विकासका सत्य
यही भूमाका मधुमय दान॥
नित्य समरसताका अधिकार
उमड़ता कारण जलधि समान।

व्यथासे नीली लहरों बीच
बिखरते सुख मणि-गणद्युतिमान ॥

कामायनीकी इन पङ्क्तियोंमें 'प्रत्यभिज्ञादर्शन' के अनुसार संसारको समझानेका सफल प्रयत्न है। सामान्य रूपसे ज्ञात वस्तुका, निर्विकल्प ज्ञप्तिका, अनुसन्धानपूर्वक विशेष निरूपण प्रत्याभिज्ञा कहा जाता है[1]। इस दर्शनमें शिव आनन्दस्वरूप तथा एकरस माने गये हैं जो बिना किसी उपादानके संसारकी निरालम्ब रचना करते हैं।

निरुपादानसंभारमभित्तावेव तन्वते ।
जगच्चित्रं नमस्तस्मै कलानाथाय शूलिने ॥ शैवागम

परन्तु एकरस रहनेवाले आनन्द-सन्दोह शिवसे विषम सृष्टिका निर्माण कैसे हो सकता है? अतः द्वन्द्वात्मिका शक्तिकी कल्पनाकी गयी जिससे युक्त होनेका परिणाम हुआ जगत्। इसीसे आचार्य शङ्करने सौन्दर्यलहरीमें कहा है—

शिवः शक्त्या युक्तो यदि भवति शक्तः प्रभवितुम ।
न चेदेवं देवः न खलु कुशलः स्पन्दितुमपि ॥

अतः विश्वका मूल है—द्वन्द्व, वैषम्य। इसके उपलक्षण हैं—सुख एवं दुःख। इनमें भी दुःख व्यापक है और सुख व्याप्य। लौकिक अनुभूति इसका प्रमाण है। परन्तु इनके मूलमें एकरस-रूप शिव विद्यमान है जिनकी 'प्रत्यभिज्ञा'से समरसता आती है तथा सामरस्यकी प्रतीति होनेपर "द्वैत" भी आनन्दनिस्यन्द हो जाता है—

---

१. ज्ञातस्यापि विशेषतो निरूपणमनुसन्धानात्मकमत्र प्रत्यभिज्ञानं न तु तदेवेदमित्येतावन्मात्रम्

लोचन पृष्ठ ९८

इस तत्त्वको समझाते हुए अभिनवगुप्तने अपने गुरुवर्य उत्पलपादके इस श्लोकको उदाहृत किया है—

तैस्तैरप्युपयाचितैरुपनतस्तन्व्याः स्थितोऽप्यन्तिके,
कान्तो लोकसमान एवमपरिज्ञातो न रन्तुं यथा ।
लोकस्यैष तथानवेक्षितगुणः स्वात्मापि विश्वेश्वरो,
नैवालं निजवैभवाय तदलं तत्प्रत्यभिज्ञोदिता ॥

जाते समरसानन्दे द्वैतमप्यमृतोपमम् ।
मित्रयोरिव दम्पत्योः जीवात्मपरमात्मनोः ॥ शैवागम

इस समरसताके आनन्दका समर्थन उपनिषद् भी करते हैं—"आनन्दात्खल्विमानि भूतानि जायन्ते, आनन्देनैव जातानि जीवन्ति, आनन्दं प्रत्यभिसंविशन्ति।"

उक्त अवतरणिकाको ही श्रद्धा अपने वसन्तके दूतको हृदयङ्गम कराना चाहती है। वह कह रही है कि यह महान् विश्व वैषम्यसे पीड़ित होनेके कारण ही स्पन्दनशील है। विषमता ही इस जगत्का जीवन है। विषमतासे रहित होकर एकरसत्व प्राप्त करना सृष्टिका उच्छेद है, क्योंकि एकरसत्व तो शिवत्व है और जब वह द्वन्द्वात्मिका शक्तिकी लीलासे रहित रहेगा तब फिर संसार कहाँ? अतः जिस विमषताको तुम जगत्की ज्वालाओंका मूल तथा सांसारिक अभिशाप समझ रहे हो वह विश्वकी स्थितिका मूल एवं ईशका वरदान है। यह वैषम्य द्वन्द्वात्मक स्वभाव है। अतः लौकिक सुख-दुःखके विकासकी कुञ्जी भी यही है। यही विषमता हमें 'भूमा'की, समष्टि दृष्टि अथवा परप्रत्यक्षकी ऋतम्भरा प्रज्ञाका आस्वाद कराती है अर्थात् विषमतासे पीड़ित व्यक्ति ही उक्त प्रज्ञाकी प्राप्तिके लिए प्रयत्नशील होता है। यह भूमा बहुत्वका बोधक है। उपनिषदोंमें इसकी बड़ी प्रशस्ति गायी गयी है—'यो वै भूमा तत्सुखम्', 'नाऽल्पे वै सुखमस्ति भूमा वै सुखम्' इत्यादि। यह भूमा अनुकूलवेदनीय तथा व्यष्टि सुखका तिरस्कार करती है, क्योंकि इससे सुखकी सीमा सङ्कुचित हो जाती है। अतः संसारके मूल रहस्यको, अनुकूलवेदनीय तथा प्रतिकूलवेदनीयको, समान अनुभव करके दोनोंमें आनन्दोपलब्धि करना भूमा है। इसी प्रकार व्यक्तिगत सुखको समष्टिगत सुखमें पर्यवसित कर देना भूमा है। यह भूमा मधुमय है। अतः जो वैषम्य भूमासुखका आस्वाद करानेवाला है उससे उपेक्षावृत्ति कैसी? इसीसे श्रद्धा मनुको भयभीत न होकर वैषम्यमें अग्रसर होनेकी प्रेरणा करती है।

दूसरे पद्यमें वह फिर मनुसे कहती है कि वैषम्यसे आगे बढ़नेपर तुम्हें सदा एकरस रहनेवाले शिवका दर्शन प्राप्त होगा। शिवस्वरूप होनेके कारण प्रत्येक जीवका समरसता (शिवत्व) में नित्य अधिकार है। जिस प्रकार कारण

व्यापक रहकर प्रत्येक कार्यमें अनुस्यूत रहता है उसी प्रकार समरसता व्यापक होकर सबके मूलमें स्थित है। जैसे समुद्र परम व्यापक होनेके कारण चारों ओरसे उमड़ता हुआ दिखाई पड़ता है और उसमें उठनेवाली नीली लोल लहरियोंके मध्य ज्योतिष्मान् मणिसमूह बिखरते हुए दिखाई देते हैं वैसे ही अत्यन्त व्यापक समरसतामें उठनेवाली दुःखकी नील लहरियोंके बीच मणिगण-के समान चमकीले सुखस्वप्न भग्न होते रहते हैं। अतः तुम्हें क्षणिक सुख-दुःख-की चिन्ता छोड़कर समरसताकी ओर बढ़ना चाहिये। शैवागमके अनुसार यही लोकका कल्याण भी है।

इस प्रकार उपर्युक्त वाग्विस्तारको, दार्शनिक प्रमेयोंको, उसी सूक्ष्मतासे दो पद्योंमें कस देनेपर भी जैसे ये पद्य काव्य-क्षेत्रकी वस्तु ही रहे, कुछ विज्ञान या शास्त्रीयक्षेत्रकी वस्तु नहीं हुए उसी प्रकार उन दार्शनिक एवं शास्त्रीय ग्रन्थोंके बारेमें भी समझना चाहिये जिनके उपस्थापनमें वर्णनों तथा स्वयम्प्रकाश्यों की प्रधानता रहती है। अतः क्रोचे शास्त्रीय कृति या प्रमेयोंमें और कलाकृति या स्वयम्प्रकाश्योंमें लक्ष्य-भेद मानते हैं, न कि प्रस्थान-भेद[1]। उनके अनुसार ये ही विभिन्न लक्ष्य अपने-अपने क्षेत्रोंमें प्रधान रहकर अनुकूल नियमोंसे परि-चालित होते रहते हैं। जहाँ प्रमेयोंसे हमारे ज्ञानभण्डारमें तथ्योंकी सङ्ख्या अधिक हो जाती है वहाँ स्वयम्प्रकाश्योंसे अन्तः करणमें मधुर स्पन्दन होने लगता है। प्रथम ज्ञानोन्मेषके प्रति तथा द्वितीय सौन्दर्यभावनाके प्रति कारण हैं। इन्हींके क्रमिक परिणाम हैं विज्ञान और कला। कला और काव्य या साहित्य का अन्तर यद्यपि 'काव्य एवं कला' शीर्षक अध्यायमें लिखा गया है, तथापि इस प्रसङ्गमें हम काव्य तथा कलाको, विज्ञान और शास्त्रको समानार्थमें ग्रहण करेंगे।

---

1. 'The difference between scientific work and the work of art, that is between an intellective fact and an intuitive fact lies in the result, in the diverse affect aimed at by their representative authors.

एस्थेटिक, पृ. ४.

इसी प्रसङ्गमें क्रोचेके लक्ष्य-भेद तथा भारतीयोंके प्रस्थान-भेदकी तुलनात्मक चर्चा भी कर लेनी चाहिये। जैसा ऊपर कहा गया है, क्रोचेके अनुसार स्वयम्प्रकाश्य ज्ञान कला है और उसका क्षेत्र है मानस जगत्, पर बुद्धि-व्यवसायसिद्ध ज्ञानका लक्ष्य है विज्ञान या शास्त्र और उसका क्षेत्र है व्यवहार-जगत्। इस प्रकार सामग्री एवं क्षेत्रकी भिन्नतासे दोनों विभिन्न लक्ष्यवाले हैं। परन्तु भारतीय दृष्टि साहित्य एवं शास्त्रमें प्रस्थान-भेद ही मानती है, लक्ष्य-भेद नहीं। भले ही एकका उपदेश कान्तासम्मित हो और दूसरेका प्रभुसम्मित परन्तु दोनोंका लक्ष्य पुरुषार्थकी, परम पुरुषार्थकी, प्राप्ति कराना ही है[1]। यदि दशरूपककारने कभी लक्ष्यभेदकी चर्चा की तो तुरन्त वक्रोक्तिजीवितकारने उसका समाधान प्रस्तुत कर दिया। धनञ्जयका कहना था कि यदि शास्त्रोंकी भाँति साहित्यका प्रयोजन व्युत्पत्ति एवं उपदेश कराना ही है तो इसकी नवीन रचना हुई क्यों? व्युत्पत्ति तथा उपदेश-के कार्य तो अन्य शास्त्रोंसे चलते ही थे। अतः काव्यका प्रयोजन है आस्वादजन्य आनन्दकी उपलब्धि कराना[2]। यहाँ धनञ्जयका 'ही' पद ध्यान देने योग्य है। इसीसे कुन्तकने समाधानके लिये काव्यके द्विविध प्रयोजनोंकी अवतारणा की। प्रथम है परम्परित या काव्यानुभूतिके पश्चात्का प्रयोजन तथा द्वितीय है साक्षात् या काव्यानुभूतिकालका प्रयोजन। प्रथममें उपदेश एवं व्युत्पत्तिकी[3] तथा द्वितीयमें आनन्दकी प्रतिष्ठा रहती

---

१. धर्मार्थकाममोक्षेषु वैचक्षण्यं कलासु च।
करोति कीर्तिं प्रीतिं च साधुकाव्यनिषेवणम्॥

२. आनन्दनिस्यन्दिषु रूपकेषु व्युत्पत्तिमात्रं फलमल्पबुद्धिः।
योपीतिहासादिवदाह साधुः तस्मै नमः स्वादुपराङ्मुखाय॥

दशरूपक १,६

३. व्यवहारपरिस्पन्दसौन्दर्यंव्यवहारिभिः।
सत्काव्याधिगमादेव नूतनौचित्यमाप्यते॥

वक्रोक्तिजीवित् १,४

धर्मादिसाधनोपायः चतुर्वर्ग क्रमोदितः।
काव्यबन्धोऽभिजातानां हृदयाह्लादकारकः॥

है[1]। कुन्तकके इस निर्णयकी महत्ताका प्रमाण यही है कि आजके मर्मज्ञ साहित्यिक भी काव्यमें रसके साथ उपयोगिताकी खोज करते हैं। इसीसे भारतीय काव्यका सम्बन्ध क्रोचेकी कलाकी भाँति अन्तर्जगत्से ही न रहकर व्यवहार-जगत् से भी है। अस्तु, अबतक स्वयम्प्रकाश्यके सम्बन्धमें जो चर्चा हुई उससे यद्यपि यह ज्ञात हो जाता है कि क्रोचे स्वयम्प्रकाश्य ज्ञानको सर्वथा स्वतन्त्र मानते हैं तथापि इससे उसके स्वभाव एवं रूपरेखाकी पूर्ण अभिव्यक्ति नहीं होती। अतः इस लक्ष्यके अनुसार विषयको उपस्थित करते हुए क्रोचेने अनेक प्रकारके पूर्वपक्षियोंका समाधान भी किया है। पूर्वपक्षकी भ्रान्तियोंके कारण वे लोग बताये गये हैं जो चलते ढङ्गसे स्वयम्प्रकाश्यको स्वीकार कर लेते हैं, जैसे स्वयम्प्रकाश्यको प्रत्यक्ष करनेवाले। दूसरे प्रकारके लोग वे हैं जो क्रोचेकी वस्तुको प्रमेयपरतन्त्र तो नहीं कहते, पर उसकी निजी व्याख्या देते हैं, जैसे स्वयंप्रकाश्यको संवेदन आदि कहनेवाले लोग। क्रोचेने इन व्याख्यानोंका भी समाधान किया है।

कुछ लोग स्वयम्प्रकाश्यसे प्रत्यक्षका या वास्तविक वस्तुके ज्ञानका तात्पर्य लेते थे। क्रोचेने स्वयम्प्रकाश्यको प्रत्यक्षरूप ही कहा है, परन्तु प्रत्यक्षको वास्तविक विषयोंका स्थूलेन्द्रियोंसे ग्रहण किया जाना मात्र नहीं माना है। उनके अनुसार इस प्रत्यक्षके आभोगमें ही अक्लिष्ट कल्पनाका भी अन्तर्भाव हो जाता है। उदाहरणार्थ, कोई इस कमरेमें बैठा कुछ लिख रहा है। सामने मेजपर कलम, दावात, कागद आदि हैं जिनका समय-समयपर लेखनकी क्रियामें उपयोग हो रहा है। यह भी स्वयम्प्रकाश्य ज्ञान या प्रत्यक्ष है। एवं यदि कोई यहाँ बैठे हुए इस व्यापारकी किसी अन्य स्थलमें कल्पना कर ले तो वह भी स्वयम्प्रकाश्य अथवा प्रत्यक्ष ही होगा। इस प्रकार स्वयम्प्रकाश्यके शुद्ध स्वभावमें वास्तविक या काल्पनिकका भेद नगण्य है, बाह्य अथवा गौण है। हाँ, यह अवश्य है कि यदि कोई किसी ऐसे व्यक्तिके स्वयम्प्रकाश्यकी कल्पना करे जिसका उन्मेष उस व्यक्तिमें सर्वप्रथम हुआ हो तो निश्चय ही

१. चतुर्वर्गफलास्वादमप्यतिक्रम्य तद्विदाम्।
काव्यामृतरसेनान्तश्चमत्कारो विधीयते॥ वही, १,५

वह उन्मेष वास्तविक वस्तुका ही हुआ होगा। वैसे, कल्पित व्यक्तिको गो शब्दोच्चारणके अव्यवहितोत्तरक्षणमें विशिष्टखुरविषाणककुद्पुच्छादिसम्पन्न-पशुका स्वयम्प्रकाश्य ज्ञान (सविकल्पक ज्ञान, परन्तु मानस व्यापारमें) हो तो यह मानना ही पड़ेगा कि उक्त पशुका साक्षात्कार उसने पहले अवश्य किया था जिससे नाम और नामीके, "एकसम्बन्धिज्ञानमपरसम्बन्धिनं स्मारयति"-के बलसे नाम सुनते ही नामीका संस्कार उद्बुद्ध हो गया। किन्तु यदि ज्ञानकी वास्तविकताका आधार वास्तविक मूर्तियों और अवास्तविक मूर्तियों-का (व्यावहारिक) भेद माना जाय, पर मूलतः यह (पारमार्थिक) भेद न हो तो ये स्वयम्प्रकाश्य वास्तविक या अवास्तविक मूर्तिके स्वयम्प्रकाश्य न होंगे, प्रत्युत शुद्ध स्वयम्प्रकाश्य होंगे। वस्तुतः वास्तविक और अवास्तविककी कल्पनाएँ सापेक्ष हैं। अतः एकके अभावमें दूसरेका अभाव स्वयंसिद्ध है। इसीसे क्रोचेने कहा कि स्वयम्प्रकाश्यमें सब कुछ वास्तविक है और कुछ भी वास्तविक नहीं। इस ज्ञानकी दशासे साम्य रखनेवाली बालकोंकी वह अवस्था बतायी गयी है जिसमें सत्यासत्यका विवेक, इतिहास, गल्पका अन्तर तिरोहित रहता है। अतएव वास्तविक प्रत्यक्ष एवं सम्भाव्य मूर्ताभिधानके विकल्परहित या सङ्कल्पात्मक ऐक्यको ही स्वयम्प्रकाश्य ज्ञान कहते हैं। प्रमेय ज्ञानमें प्रमाणोंके आधारपर ज्ञेयके विश्लेषणसे ही ज्ञानोत्पत्ति होती है, ज्ञातृत्वका प्रतिफल ज्ञानमें नहीं होता, किन्तु स्वयम्प्रकाश्य ज्ञानमें ज्ञाता और ज्ञेयकी तटस्थ स्थिति नहीं रहती, अपि च ज्ञेयके ऊपर पड़े हुए प्रभावोंकी अभिव्यञ्जना ही ज्ञान-का आधार रहती है[1]।

---

1. Intuition is the indifferentiated unity of the perception of the real and of the simple image of the possiple. In our intuition we do not oppose ourselves to external reality as empirical beings, but we simply objectify our impressions, whatever they be.

एस्थेटिक पृ० ६

क्रोचे द्वारा की गयी स्वयम्प्रकाश्यकी उपर्युक्त परिभाषापर विचार करनेसे विदित होता है कि उन्हें इस ज्ञानके आकारमें भी सर्वाङ्गीण सुसम्बद्धता उसी प्रकार अभीष्ट है जिस प्रकार भारतीय आलङ्कारिकोंको 'अम्लानप्रतिभोद्भिन्न' तथा 'विशिष्टरूपतया ज्ञायमान' विभावों (और अनुभावों) के उपस्थापनमें सुश्लिष्टता अभीप्सित है। जिस प्रकार सहृदयकी सामान्यावस्थापन्न बुद्धिसे यत्किञ्चित् अधिक व्यापारको रसशास्त्री रसास्वादमें बाधक मानते हैं उसी प्रकार क्रोचे भी स्वयम्प्रकाश्य ज्ञानमें थोड़ा भी बुद्धिविक्षेप सहन नहीं करते। परन्तु जैसे गहन दार्शनिक सिद्धान्त भी प्रसिद्ध होनेके पश्चात् काव्योपनिबद्ध होनेपर अन्य सामग्रियोंके साहचर्यसे रसप्रतीतिमें बाधक नहीं होते वैसे ही बड़े-बड़े सप्रमेय भी सामान्यात्मक होकर, क्रोचेकी दृष्टिसे विशिष्ट होकर जब स्वयंप्रकाश्यके विषय बनते हैं, अर्थात् जब मन अपनी क्रियासे उन्हें आत्मसात् कर लेता है, तब उससे भी स्वयम्प्रकाश्यके स्वरूपमें त्रुटि नहीं होती। इस प्रकार यद्यपि स्वयम्प्रकाश्य और रस इन दोनोंकी अनुभूतियाँ छुई-मुईकी भाँति बुद्धिस्पर्शसे बचायी जाती हैं, अतः इस अंशमें समता देखी जा सकती है, परन्तु इसके अतिरिक्त पर्याप्त भेद भी है। जैसे, रसशास्त्री लौकिक उपादानोंकी अलौकिक (विभावन व्यापारादिकी) उपस्थिति द्वारा उत्पन्न रसानुभूतिको अलौकिक (लोकभिन्न एवं लोकसदृश) मानते हैं, परन्तु क्रोचे लौकिक उपादानों की लौकिक (भौतिक वस्तुओंसे जगायी गयी) तथा अलौकिक (काल्पनिक) इन उभयात्मक उपस्थितयों द्वारा उत्पन्न अनुभूतिको अलौकिक (दिव्य) मानते हैं। कहनेका तात्पर्य यह कि भारतीय अलौकिक पदमें पर्युदास समास करते हैं और क्रोचे प्रसज्यप्रतिषेधका अर्थ लेते हैं। यहाँ स्पष्ट है कि क्रोचेने सौन्दर्यानुभूतिमें प्रत्यक्षजन्यानुभूति और कल्पनाजन्यानुभूतिका समाहार किया है, किन्तु रसशास्त्री भावयित्री प्रतिभाजन्यानुभूतिको ही रसानुभूतिमें स्वीकार करते हैं। इन दोनों अनुभूतियोंमें एक भेद यह भी है कि स्वयम्प्रकाश्य कल्पनाका बोधपक्ष है, जिसमें भावका (मनोवैज्ञानिक तथा भारतीय साहित्यशास्त्रकी दृष्टिसे) ग्रहण नहीं हो सकता, असम्भव है[1]। पर

१. द्रष्टव्य—पं. रामचन्द्र शुक्ल लिखित 'काव्यमें अभिव्यंजनावाद' पृष्ठ १९७ से १९८ तक

रसानुभूति तो स्थायी भावकी ही होती है। स्वयं क्रोचेने तो इन भावोंकी सत्ता ही स्वीकार नहीं की है, कारण जो भी हो, किन्तु रसानुभूतिमें "विज्ञार्थत्व" लिपटा हुआ है[1]।

स्वयम्प्रकाश्य ज्ञानको कुछ दार्शनिकोंने संवेदन या इन्द्रियबोधसे सम्बद्ध किया है। यह संवेदन मनोवैज्ञानिकों द्वारा दिया गया अर्थ वहन करता है। उन्होंने इसको भी एक प्रकारका ज्ञान माना है। इसको समझनेके लिए नैयायिकोंके प्रत्यक्ष ज्ञानके भेदोंको समझ लेना चाहिये जिससे बोधमें स्पष्टता और सरलता हो। प्रत्यक्ष दो प्रकारका होता है—निर्विकल्पक तथा सविकल्पक। निर्विकल्पकमें 'कुछ है' इत्याकारक अस्पष्ट ज्ञान होता है। अतः उसमें सन्देहकी कोटि भी न आनी चाहिये, क्योंकि इससे भी ज्ञेयका कुछ न कुछ रूप स्पष्ट हो जाता है। सविकल्पक ज्ञान वह है जिसमें हम वस्तुको उसके अवयवोंकी स्पष्टता सहित जान लेते हैं। क्रोचेका स्वयम्प्रकाश्य ज्ञान कल्पनामें मनकी प्राथमिक क्रियासे उपस्थापित सविकल्पक ज्ञान ही है और मनोवैज्ञानिकोंका संवेदन अथवा इन्द्रियबोध निर्विकल्पक ज्ञान या उसके अव्यवहितोत्तर क्षणकी स्थिति है। जिन दार्शनिकोंके मतमें यह संवेदन ही स्वयम्प्रकाश्य है उनके दो सम्प्रदाय हैं। पहला देश और कालके अनुसार रूपवान् एवं व्यवस्थापित संवेदनको ही स्वयम्प्रकाश्य ज्ञान कहता है और दूसरा शुद्ध संवेदनको ही।

प्रथम पक्षवाले स्वयम्प्रकाश्यके दो रूपोंकी कल्पना करते हैं। ये हैं देश और काल। इस कल्पनाका कारण यह है कि जब भी उक्त ज्ञानकी निष्पत्ति होती है तब उसमें देश एवं कालकी उपाधियाँ लगी रहती हैं। अतः स्वयम्प्रकाश्यके रूपाध्यायक होनेसे उसके ये ही दो रूप होते हैं[2]। क्रोचेने इसका प्रतिवाद

१. भङ्गयन्तरसे क्रोचेने भी भावोंको स्वीकार किया है।

वही पृष्ठ २०५ से २०६ तक

२. इन दार्शनिकोंकी वस्तुको यदि भारतीय दार्शनिक पदावलीमें उपस्थित किया जाय तो स्वयम्प्रकाश्यका अर्थ होगा देशकालावच्छिन्न ज्ञान। क्रोचेके इस पूर्वपक्षमें भी कोई दम नहीं है। वस्तुतः एक-आध स्थलोंको छोड़कर उन्हें ऐसे ही लचर पूर्वपक्षोंका सामना करना पड़ा है। सामान्य बुद्धिवादीको भी विदित है कि इस ब्रह्माण्ड-

करते हुए कहा है कि जिस प्रकार प्रमेयगर्भ स्वयम्प्रकाश्य भी स्वयम्प्रकाश्य ही रहते हैं, उसी प्रकार देश और कालसे उपहित स्वयम्प्रकाश्य भी अपने स्वयम्प्रकाश्यत्वका त्याग नहीं करते। उन्होंने इसमें प्रमाण उपस्थित किया है कि जैसे प्रमेयहीन स्वयम्प्रकाश्योंके निदर्शनसे उनकी स्वतन्त्रताका प्रतिपादन हुआ था, वैसे ही देश और कालसे सर्वथा मुक्त स्वयम्प्रकाश्योंकी उपस्थितिसे उनका स्वातन्त्र्य सिद्ध हो सकता है। उदाहरणार्थ जिस समय आकाशका एक अनुरञ्जित खण्ड, भावकी एक सरस लहरी, एक व्यथाभरी आह हमारी चेतनामें प्रतिफलित होती है, यद्यपि उस समय देश-कालकी प्रतीति तिरोहित रहती है, तथापि हमें स्वयम्प्रकाश्य ज्ञान होता है। इस आधारपर क्रोचेने सिद्ध किया है कि देश काल भी अन्य सहायक उपादानोंकी भाँति स्वयम्प्रकाश्यमें रह सकते हैं, परन्तु वे उसके स्वरूपाधायक नहीं हो सकते। अतः सिद्धान्तमें यह बात आयी कि स्वयम्प्रकाश्य ज्ञान किसी कलाकृतिमें देश-कालको अभि-

के प्रति देश और कालकी सामान्य कारणता है। तब केवल किसी स्वयम्प्रकाश्यको ही इनका अवच्छेद्य बनानेकी आवश्यकता क्या ? यदि कोई व्यक्ति भारतीय काव्य से—

स्मरसि सुतनु तस्मिन्पर्वते लक्ष्मणेन,
प्रतिविहितसपर्या सुस्थयोस्तान्यहानि।
स्मरसि सरसनीरां तत्र गोदावरीं वा,
स्मरसि च तदुपान्तेष्वावयोर्वर्तनानि॥

तथा,

समबिसमणिव्विसेसा समन्तओ मन्द मन्द संआरा।
अइरा हो हिन्ति पन्थानां मणोरहाणां दुल्लङ्घाः॥

इन देश और कालकी क्रमिक अभिव्यक्तियोंको उपस्थित करके उक्त पक्षका मण्डन करना चाहे तो नहीं कर सकता, क्योंकि अभिव्यक्तियाँ अनेकोंकी हो सकती हैं। प्रधानताको लेकर, 'अणुरपि भेदोमहदध्यवसायकरः' इस न्यायसे कहीं-कहीं देश-कालकी अभिव्यक्ति भी होती है। परन्तु इससे इसका रूपाध्यायकत्व सिद्ध नहीं हो सकता।

व्यञ्जित न करके किसी व्यक्ति या चरित्र अथवा किसी वस्तुकी आकृतिके समान उसके गुणोंकी अभिव्यञ्जना करता है[1]। क्रोचे ने बताया है कि किस प्रकार अन्य दार्शनिकोंने भी स्वयम्प्रकाश्य ज्ञानके इस चरित्रोद्घाटन कार्यको स्वीकार किया है। क्रोचेने देश और कालको स्वयम्प्रकाश्यका स्वरूपाधायक न माननेमें दूसरा कारण यह उपस्थित किया है कि उक्त ज्ञानके विषय सरल और साधारण होते हैं, परन्तु देश और कालकी कल्पनाएँ मिश्र एवं अनन्य-साधारण हैं। उन्होंने यह भी बताया है कि किस प्रकार देश और कालमें रूपाधायकत्व, भेदकत्वादि धर्मोंके माननेवाले भी उसकी प्रकारान्तरसे व्याख्या कर रहे है। उदाहरणके लिए, कुछ लोग स्वयम्प्रकाश्यको केवल देशत्ववर्गमें ही समाहित मानते हैं और प्रतिपादन करते हैं कि कालका आकलन भी देश द्वारा हो सकता है[2]। अन्य लोगों का विचार है कि देश लम्बाई, चौड़ाई और ऊँचाई (यूक्लिड सिद्धान्त) इन तीनों उपाधियोंसे रहित है, क्योंकि दार्शनिक दृष्टिसे उनकी कोई आवश्यकता ही नहीं[3]। क्रोचेने पहले सिद्धान्त-

---

1, That which intuition reveals in the work of art is not space and time, but character, individual physiognomy.

एस्थेटिक्स पृ. ७

भारतीय साहित्यमें क्रोचेके इस कथनकी पुष्टि 'यत्राकृतिस्तत्रगुणाः वसन्ति' तथा इस प्रकारकी अन्य सूक्तियाँ करेंगी। परन्तु इतना स्मरण रखना यहाँ भी आवश्यक है कि संस्कृत साहित्यका लक्ष्य रसपरिपोष करना ही था, चरित्रवैचित्र्यका निरूपण या उद्घाटन नहीं। आनुषङ्गिक रूपसे यह भी होता गया है, यह दूसरी बात है।

2. Some reduce intuition to the unique category of spatiality, maintaining that time also can only be conceived in terms of space.

वही पृ. ८

3. Others abondon the three dimensions of spa-

पर अनेक विकल्प किये हैं,—१. भला वह कौन-सा देशत्व धर्म होगा जो कालका भी नियन्त्रण कर सके ? २. यह एक सामान्य स्वयम्प्रकाश्य व्यापार-के निर्देशका प्रयत्न तो नहीं, जो अनेक आलोचनाओं और निषेधोंका फल हो ? ३. जब हम स्वयम्प्रकाश्यको देश और कालका अभिव्यञ्जक न कहकर चारित्र्यविधायकमात्र कहते हैं तो क्या भ्रम में हैं ? क्या इसमें और भी स्पष्टता नहीं आती जब हम इसे वस्तुओंका पूर्ण एवं ऐकान्तिक बोध कराने-वाले व्यापार या विभागकी इकाई मान लेते हैं ?

उक्त रीतिसे स्वयम्प्रकाश्यको देश और कालके घेरेसे निकालकर, किस प्रकार संवेदन अथवा इन्द्रियबोधसे वह भिन्न है, इसका उपपादन क्रोचेने किया। पहले कहा जा चुका है कि संवेदनका स्वरूप क्या है। क्रोचे इसे द्रव्य मानते हैं। इसलिए मन उसे उसके शुद्ध रूप निर्जीवत्व, निष्क्रियत्व, अरूपत्व-विशिष्ट रूपमें ग्रहण नहीं कर सकता। जीवस्वरूप, गतिशील एवं साँचेवाले मन द्वारा ग्रहण किये जाने योग्य अवस्थातक पहुँचनेके लिए संवेदनको मानस सविक-ल्पक स्थितितक पहुँचना आवश्यक है। यहाँतक आते-आते इन्द्रियबोधका अपना रूप नष्ट हो जाता है, वह स्वयम्प्रकाश्यके रूपमें ही परिवर्तित हो जाता है। जैसे स्वयम्प्रकाश्य ज्ञान प्रमा ज्ञानमें परिणत होता है, ठीक वैसे ही यह परिणमन भी है। अतः स्वयम्प्रकाश्य ज्ञानकी उत्तर सीमा जिस प्रकार प्रमा है उसी प्रकार पूर्व सीमा इन्द्रियबोध या संवेदन है। द्रव्य होनेके कारण यह भी अपने भावात्मक रूपमें यन्त्ररूपता या निष्क्रियता है, जिसे मन अनुभव तो करता है पर जिसका सर्जन नहीं करता[1]। बिना इन्द्रियबोधके मनुष्यका कोई भी ज्ञान या उसकी क्रिया

---

ce as not philosophicaly necessary, and conceive the function of spaciality as void of every particular spatial determination.

वही पृ. ८

1. Matter in its abstraction, is mechanism, passivity; it is what the sprit of the man experiences, but does not produce. एस्थे पृ० ९

सम्भव नहीं। परन्तु केवल द्रव्य मनुष्यमें पशुताकी ही सृष्टि करता है, न कि मनोराज्यका निर्माण, जो साक्षात् मनुष्यता है। तात्पर्य यह कि संवेदन-तककी वृत्ति तो पशुओंमें भी होती है। किन्तु इसके आगे कल्पना और तर्क आदि वृत्तियाँ केवल मनुष्योंके लिए नियत हैं। क्रोचे इन वृत्तियोंमेंसे प्रथमपर द्वितीयको, द्वितीयपर तृतीयको और तृतीयपर चतुर्थको आश्रित मानते हैं। पर इनकी विपरीत स्थिति सत्य न होगी, और न इन चारोंके अतिरिक्त और कोई मानस वृत्ति ही वे स्वीकार करेंगे। अतः मनुष्यकी पहली तथा मुख्य वृत्ति अभिव्यञ्जना है। इसीसे क्रोचेने कहा है कि संवेदन पशुताका ही पालक है, न कि उस कल्पनाका जो मनुष्यताका मूलाधार है[1]। इस संवेदनका निदर्शन उस समय उपस्थित होता है जब हम अपनेमें किसीकी झलक तो पाते है, पर वह वस्तु मनमें प्रतिफलित या रूपवती होती हुई नहीं मिलती—ऐसे ही अवसरोंपर द्रव्य और रूपका प्रकृष्ट अन्तर ज्ञात होता है[2]। ये द्रव्य तथा रूप मनकी विरोधी क्रियाएं नहीं हैं, प्रत्युत मनमें ही बाह्यको आक्रमण करके आत्मसात् करनेकी क्रिया होती है। यह क्रिया आकार अथवा रूप-परिग्रहक होती है। इसे हम साँचा कहते हैं। इसी साँचे (फार्म)में ढलकर

---

1. ……mere matter produces animality, whatever is brutal and impulsive in man, not spiritual dominion, which is humanity.

वही

2. How often do we strive to understand what is passing within us ?. We do catch a glimpse of something but this does not appear to mind objectified and formed. In such moments it is, that we perceive the profound differance between matter and form.

वही

द्रव्य सुसम्पूर्ण रूप (कांङ्क्रीट फार्म) प्राप्त करता है[१]। यहाँ यह बात स्पष्ट हो जाती है कि द्रव्योंकी भिन्नताके कारण ही स्वयम्प्रकाश्योंमें विभिन्नता आती है, साथ ही बिना द्रव्यकी उपस्थितिके मानस व्यापार प्रारम्भ नहीं होता। अतः क्रोचे द्रव्यको कलामें स्थान नहीं देते, यह बात नहीं है। उनका कहना इतना ही है कि जिस रूपमें वस्तुकी अभिव्यञ्जना हुई है उसके अतिरिक्त उसका विचार कलामें आवश्यक नहीं। हाँ, योग्यता और आकाङ्क्षा निश्चय ही अपेक्षित है, अर्थात् कलामें अभिव्यञ्जनाका ही वैशिष्ट्य रह जाता है, अभिव्यञ्ज्य गौण हो जाता है।

उपर्युक्त प्रघट्टकोंमें हमने देखा कि किस प्रकार स्वयम्प्रकाश्य ज्ञान संवेदन अथवा द्रव्य या भावात्मकता पर आधृत है। इससे कुछ लोग संवेदनके एक अन्य प्रकारको लेकर स्वयम्प्रकाश्य ज्ञान कहने लगे। देशकालाश्रयी संवेदन तथा शुद्ध संवेदन कहनेवालोंका क्रोचे द्वारा किया गया उपस्थापन तथा खण्डन दिखाया जा चुका है। प्रस्तुत पक्षके विषयमें क्रोचेका मत है कि 'अन्य प्रकार-का उपस्थापन करनेवालोंने भ्रामक पदावलियों द्वारा स्वयम्प्रकाश्यको संवेदनसे उलझानेका ही प्रयास किया है।' क्रोचे इसका उल्लेख करते हुए कहते हैं कि स्वयम्प्रकाश्य है तो संवेदन ही, पर उतना सामान्य नहीं जिसे हम उसका सह-भाव या साहचर्य कह सकें[२]। क्रोचेके अनुसार इसमें सहभाव या साहचर्य पद भ्रमोत्पादक है, क्योंकि इससे अनेक अर्थ लिये जा सकते हैं—१. यदि इसका अर्थ स्मृतिजन्य सहभाव लें अर्थात् चेतन या मन द्वारा स्मरणमें लाया गया सहभाव मानें तो योग्यताकी हानि होती है, क्योंकि संवेदन द्रव्य है और स्वयम्प्रकाश्य मानस व्यापारकी प्रथम क्रिया है। अतः इन दोनोंकी सङ्गति कैसे मिलेगी? २. यदि सहभावका अर्थ अचेतन पदार्थों (द्रव्यों) का सहभाव हो तब तो वह प्राकृत जगत्की वस्तु हुई, और स्वयम्प्रकाश्य चैतन्य व्यापार ही है। इस प्रकार यहाँ भी योग्यताका अभाव है। ३. परन्तु कुछ सह-

1. Matter attacked and conquered by form gives to concrete form.

एस्थटिक पृ. १९

2. Thus, it has been asserted that intuition is

भाववादी सर्जनात्मक सहभावकी कल्पना करते हैं। यदि उसे स्वीकार किया जाय तो सहभावका साधारण अर्थ (सेन्सुअलिस्ट्सके अनुसार) न होकर कल्पक अर्थमें परिणमन कर जायगा, जो प्रथम मानस व्यापार है। यहाँ सर्जनात्मक विशेषण ही निष्क्रियता और सक्रियताका, संवेदन तथा स्वयम्प्रकाश्यका भेदक है।

कुछ मनोवैज्ञानिकोंने संवेदन और प्रभाके मध्यमें मूर्त्युपस्थापन या मूर्तिविधानकी एक और ज्ञानकी दशा मानी है। इससे भी स्वयम्प्रकाश्यके सम्बन्धका निर्देश क्रोचेने किया है। यदि यह मूर्तिविधान संवेदनसे सर्वथा अतिरिक्त अर्थात् चैतन्य प्रक्रियासे द्रव्यत्वको त्यागकर मानस सृष्टिकी वस्तु हो, तब तो वह स्वयम्प्रकाश्य ज्ञान ही है, किन्तु यदि इसका तात्पर्य मिश्र संवेदनसे हो तो वह सामान्य संवेदनसे विभिन्न वस्तु नहीं होगी। इसका कारण यह है कि अन्तिम स्थितिमें गुण-भेद सम्भव नही है, फिर मात्रा-भेदसे विभिन्नता दार्शनिक दृष्टिके अनुसार कैसे हो सकती है? जैसे किसी पर्वत और उसी पर्वतके एक शिलाखण्डमें एक ही अणुत्व सामान्यकी स्थिति रहती है वैसे ही सामान्य संवेदनके गुण-धर्म मिश्र संवेदनमें भी रहेंगे। क्रोचेने एक विकल्प यह भी किया है कि यदि मूर्तिविधानको संवेदनके साहचर्यमें मानस कृतिका द्वितीय स्तर भी कहें तो भी भ्रान्तिका निराकरण नहीं हो सकता, क्योंकि यदि द्वितीय स्तरसे गुण-भेद या स्वरूप-भेदका अर्थ हो—संवेदन या इन्द्रियबोधका विजृंभण ही मूर्तिविधान हो, तो निश्चय ही वह स्वयम्प्रकाश्य ज्ञान होगा। पर यदि द्वितीयस्तरसे संवेदनोंकी अधिकता या सङ्कुलताका तात्पर्य हो, मात्राभेद और वस्तुभेद ही इष्ट हो, तो वह भी सामान्य संवेदनकी ही कोटिमें आयेगा, न कि स्वयम्प्रकाश्यके क्षेत्रमें[1]।

---

sensation, but not so much simple as the association of the sensations.

एस्थे, पृ. ११

1. What does secondary order mean here? Does it mean a qualitative, a formal difference?

इस प्रकार हम देखते हैं कि स्वयम्प्रकाश्यकी प्रत्यभिज्ञाके मार्गमें अनेक कठिनाइयाँ हैं। परन्तु क्रोचेने उसके पहचाननेके लिए अत्यन्त सरल मार्ग यह बतलाया है कि प्रत्येक स्वयम्प्रकाश्य या मूर्तिविधान अभिव्यञ्जना ही होता है। जो अपनेको अभिव्यञ्जनामें प्रतिफलित नहीं करता वह स्वयम्प्रकाश्य या मूर्तिविधान नहीं, अपितु संवेदन या प्रकृतत्व, द्रव्यत्व है[1]। क्रोचेका सिद्धान्त है कि जब भी मन स्वयम्प्रकाश्य व्यापार ग्रहण करता है तब वह निर्माण करता है, स्वरूपाधान करता है, अभिव्यञ्जना करता है। इन क्रियाओंके अतिरिक्त स्वयम्प्रकाश्यकी स्थिति ही नहीं होती। ठीक भी है, जब मनकी ही कल्पना व्यापाररूपमें है, तब उसके किसी भी अंशसे क्रियात्मकता कैसे हटायी जा सकती है? अतः क्रोचेने कहा कि स्वयम्प्रकाश्य व्यापार उसी सीमातक स्वको ग्रहण करते हैं जितनेमें वे उनको अभिव्यञ्जित कर दें[2]। इस पंक्तिपर विरोधाभासके द्विविध विकल्पोंकी सम्भावनाएँ और समाधान क्रोचेने दिये हैं। उन्हें उसी क्रमसे उद्धृत किया जाता है।

If so we agree representation is elaboration of sensation, it is intuition, or does it mean greater complexity and complication, a quantitative material diflerenee ?. In that ease intuition would again be confused with simple sensation.

वही पृ० संख्या १२–१३

1. Every true intuition or representation is also expression. That which does not objectify itself in expression is not intuition or representation but sensation and naturality.

वही पृ० संख्या १३

2. Intuitive activity possesses intuitions to the extent that it expresses them.

वही पृ० १३

अभिव्यञ्जनाका अर्थ कुछ लोग शाब्दी अभिव्यञ्जना लेते हैं। अब विरोध यह होता है कि स्वयम्प्रकाश्य तो पाँचों प्रकारकी कलाओंके प्रति कारण हैं और शाब्दी अभिव्यञ्जना तो केवल काव्यकलासे ही सम्बन्ध रखती है—यह कैसे ? परिहार यहाँ है कि यहाँ अभिव्यञ्जना अपनेको शब्दोंतक ही सीमित न रखकर रेखाओं, रङ्गों आदिमें भी सङ्क्रमित है। जिस प्रकार किसी चित्रकारका स्वयम्प्रकाश्य ज्ञान तथा उसकी अभिव्यञ्जनाएँ युगपद् चित्रात्मक होती हैं उसी प्रकार गायक तथा कविके स्वयम्प्रकाश्य तथा उनकी अभिव्यञ्जनाएँ कमशः ध्वन्यात्मक एवं शब्दात्मक हुआ करती हैं। चित्रात्मक, ध्वन्यात्मक या शब्दात्मक आदि किसी प्रकारकी अभिव्यञ्जना क्यों न हो, कोई भी स्वयम्प्रकाश्य अभिव्यञ्जना-विहीन नहीं रह सकता, क्योंकि दोनोंका अयुतसिद्ध सम्बन्ध है[1]। जैसे रेखा-गणितके किसी चित्रका किसीको स्वयम्प्रकाश्य ज्ञान तब तक नहीं कहा जा सकता जबतक उसके मनमें उस चित्रकी इतनी स्पष्ट रेखाएँ उन्मिषित न रहें कि आवश्यकता पड़ते ही वह उनको कागदपर उतार सके। इसी भाँति स्वदेश-की सीमाका स्वयम्प्रकाश्य ज्ञान तबतक नहीं कहा सकता जबतक भारत-वर्षकी सीमारेखाओंका सूक्ष्मातिसूक्ष्म रूप उपस्थित कर सकनेकी हममें योग्यता न हो। प्रत्येक व्यक्ति अपने भावों और प्रभावोंके एकीकरणात्मक प्रयत्नका भी अनुभव करता है, किन्तु उसी सीमातक जहाँतक वस्तुओंके रूप देनेकी क्षमता है। भाव और प्रभाव शब्दोंके माध्यमसे चेतनके अस्पष्ट और धुँधले प्रदेशसे निकालकर विचारोंके सुस्पष्ट प्रदेशमें प्रवेश करते हैं। इस एकजातीय बौद्धिक क्रियामें स्वयम्प्रकाश्य ज्ञानको अभिव्यञ्जनासे अतिरिक्त बताना असम्भव है। एक समयमें एकके साथ दूसरी भी उत्पन्न होती है, क्योंकि वे दो नहीं, एक हैं[2]। हाँ, यह सम्भव है कि किसीकी अभिव्यञ्जना लेखनी या तूलिका आदिसे अङ्कित न होकर ही रह जाय।

---

1. But be it pictorial, or verbal or musical or whatever else it be called, to no intuition expression can be wanting, because it is an inseparable part of the intuition. वही पृ० १३–१४
2. Sentiments and impressions, then pass by

पूर्वोदाहृत पंक्तिमें विरोधाभासका दूसरा कारण यह है कि कुछ लोग यह कहते हुए पाये जाते हैं कि हमारे मनमें बहुतसे आवश्यक विचार हैं, पर हम उन्हें व्यक्त नहीं कर पाते। इस कथनमें विरोधका प्रकार यह है कि उक्त 'विचार' पदसे प्रमा न भी लें तो भी स्वयम्प्रकाश्य मानना ही पड़ेगा, क्योंकि इससे और पूर्वकालमें मनकी कोई क्रिया है ही नहीं। फिर क्रोचेका सिद्धान्त है कि यह क्रिया भी बिना अभिव्यञ्जित हुए नहीं रह सकती। परन्तु उक्त कथनसे स्पष्ट है कि विचार अभिव्यक्ति नहीं पा रहा है। इसका समाधान यह है कि उस प्रकारकी वाणीका विसर्ग करनेवाला अपनेको अधिक आँकता है। यदि वस्तुतः उसे कुछ कहनेके लिए होता तो वह अपने कथनीय-को अनुरूप पदावलियोंमें अभिव्यञ्जित कर देता[1]। किन्तु स्थिति ऐसी है नहीं, इसलिए मानना पड़ेगा कि उसके मनमें कहनेको कुछ भी नहीं है। यदि अभिव्यञ्जनाओंमें विचारोंकी स्थिति उखड़ती हुई, दरिद्र या अशक्त दिखाई पड़े तो फिर अभिव्यञ्जकमें इन त्रुटियोंकी कल्पना करनी चाहिये। कुछ लोगोंका विचार है कि कलाकारों और सामान्य मनुष्योंकी कल्पनाएँ और स्वयम् प्रकाश्य तुल्यरूप ही होते हैं। अन्तर केवल इतना है कि कलाकारोंके पास संविधान-सम्बन्धी विशेषता भी रहती है जिससे वे उनकी अभिव्यञ्जना कर सकते हैं, परन्तु सामान्य लोगोंको वह कला ज्ञात न रहने से अभिव्यञ्जना नहीं हो पाती। जैसे मर्यादापुरुषोत्तम श्रीरामचन्द्रजीका चरित्र विश्वविश्रुत

---

means of words from the obscure region of the soul into the clarity of the contemplative spirit. In this cognitive process it is difficult to distinguish intuition from expression. The one is produced with the other at the same instance because they are not two but one.

वही, पृ० १४

1. In truth if they really had them, they would have coined them into beautiful ringing words and thus expressed them.

वही पृ० १४–१५

है। सभी लोगोंको उनके विषयमें यथारुचि कल्पना करनेका अवकाश भी है। पर रामायण, उत्तमरामचरित और रामचरितमानसको क्रमशः वाल्मीकि, भवभूति तथा तुलसीके अतिरिक्त और कौन उन रूपोंमें अभिव्यञ्जित कर सका। उन कृतिकारोंको तत्तद्रूपोंमें रामचरितका स्वयम्प्रकाश्य हुआ और वैसी ही अभिव्यञ्जनाएँ हुईं। पर क्रोचेका मत है कि उक्त कार्य वैधानिक विशेषताओं-के जाननेसे निष्पन्न नहीं हुआ, प्रत्युत स्वयम्प्रकाश्यका फल है। अतः लोगोंकी उक्त धारणा भ्रान्त है, क्योंकि अपने अन्दर होनेवाले संवेदनको ही वे स्वयम्प्रकाश्य मान लेते हैं।

क्रोचेके अनुसार जिस संसारके विषयमें हमें नियमतः स्वयम्प्रकाश्य होते रहते हैं वह अत्यन्त सीमित है। उसमें छोटी-छोटी कामचलाऊ अभिव्यञ्ज-नाएँ हुआ करती हैं जो बढ़ती हुई मानसिक एकाग्रताके कारण कुछ क्षणोंमें अपेक्षाकृत आकार और परिमाणमें अधिक हो जाती हैं। 'यह मनुष्य है, यह घोड़ा है, यह कठोर है, यह भारी है' इत्याकारक स्वयम्प्रकाश्योंके आधारपर ही हम क्रियाओंमें प्रवृत्त होते हैं[1]। क्रोचेने इनकी उपमा उन विषय-सूचियों और चिप्पकोंसे दी है जो पुस्तकस्थानीय या वस्तुस्थानीय हो जाय[2]। कहनेका तात्पर्य यह कि जैसे हम जल्दीमें इनसे ही पुस्तक और वस्तुके विषयमें ज्ञान प्राप्त करके काम चला लेते हैं, वैसे ही उक्त प्रकारकी लघु अभिव्यञ्जनाओंसे व्यवहार चलता है। यह साम्य और दूरतक चलता है, अर्थात् जैसे हम आवश्यकता पड़ने-पर विषय-सूचीसे आगे बढ़कर पुस्तकका मनन, या इस्तहारको छोड़कर उस

---

1. This is and nothing else what we possess in our ordinary life, this is the basis of our ordinary action.

वही पृ० १६

2. It is the index of the book, the lables tied to things that take place of the things themselves.

वही पृ० १६

वस्तुके अन्वीक्षणमें प्रवृत्त होते हैं उसी प्रकार हम लघु-लघु अभिव्यञ्जनाके बढ़ते हुए क्रमसे महत्तर एवं महत्तम स्वयम्प्रकाश्द्योतकको उन्मीलित करते हैं। परन्तु क्रोचे इस क्रमको सार्वत्रिक नहीं मानते। वे कहते हैं कि कलाकारोंके मनोविज्ञानका अध्ययन करनेवालोंने समझाया है कि किसी व्यक्तिको देखनेके पश्चात् जब चित्रकारने उस व्यक्तिका स्वयम्प्रकाश्य ज्ञान प्राप्त करना चाहा तो उसे पता चला कि जो व्यक्ति प्रत्यक्ष दर्शनके समयमें अत्यन्त सजीव और स्पष्ट दिखाई पड़ा था वह वास्तवमें कुछ नहीं था। अतः चित्राङ्कनके समय जो बोध चित्रकारको रहता है वह धुँधले और अस्पष्ट रेखाचित्रके अतिरिक्त और कुछ नहीं रहता। ऐसी स्थितिमें उसे अपनी शक्तिका ही सहारा लेना पड़ता है। इसीसे माइकेल एञ्जिलोने कहा था कि चित्रकार चित्रोंको हाथोंसे नहीं, मस्तिष्कसे रँगता है[1]। अतएव क्रोचेके अनुसार कलाकारकी यही विशेषता है कि जहाँ साधारण जन किसी वस्तुकी झलक पाकर या भाव-विभोर होकर रह जाता है वहाँ कलाकार उसका साक्षात्कार करता है[2]। सामान्य व्यक्ति समझता है कि मैं किसीको देख रहा हूँ, पर वस्तुतः वह उससे पड़े हुए प्रभावोंका ही अनुभव करता है। क्रोचेने दृष्टान्त दिया है कि जब हम किसीका स्मित देखते है तब हम उससे अपने ऊपर पड़े हुए प्रभावोंकी ही अनुभूति करते हैं, न कि ईषत्फुल्ल कपोलों तथा अनुल्बण कटाक्षों द्वारा अदृष्टदर्शनरूप विशिष्ट हासकी प्रतीति, जैसा कि कलाकार अपने मननके फलस्वरूप मानस प्रत्यक्षमें किया करते हैं। उनकी यही मननशक्ति मूर्त्तियोंको ज्योंका त्यों कृतियोंमें उतार देती है। क्रोचेके

1. Michael Angelo said, 'One paints not with one' s hands but with one, s mind.

वही, पृ० १६

2. The painter is painter, because he sees what others only feel and catch a glimpse of, but do not see.

वही, पृ० १७

अनुसार तो ज्योंका त्यों उतर नहीं सकता, यह तो अदार्शनिकोंकी बात है। अस्तु; यही है साधारण मनुष्यों और कलाकारोंका भेद। कहाँतक कहा जाय, जिन अति घनिष्ठ लोगोंके साथ भी साधारण लोग रहते हैं उनको भी वे अन्योंसे विभेदक स्थूल आकारोंको छोड़कर कुछ अधिक नहीं जानते, अर्थात् उनका भी स्वयम्प्रकाश्य ज्ञान उन्हें नहीं होता। क्रोचेने इस विषयमें एक दृष्टान्त गीतोंका दिया है। गीतोंका प्रणयन करके निर्माता विरत हो जाता है, परन्तु जब वही गीत किसी गायक द्वारा गाया जाता है तब उसमें स्वरसमर्पक सामग्री उस गायककी ही अभिव्यञ्जना होती है[1]। इससे सिद्ध होता है कि स्वयम्प्रकाश्य ज्ञान व्यक्तिगत, स्वतः परिपूर्ण तथा सत्यासत्य, उचितानुचित, योग्यायोग्यकी धारणासे परे मनकी प्राथमिक क्रिया है और अभिव्यञ्जना उसका नित्य लक्षण है। स्वयम्प्रकाश्य ज्ञान अभिव्यञ्जनाके अतिरिक्त (न उससे कुछ कम, न कुछ अधिक) और कोई वस्तु नहीं[2]।

स्वयम्प्रकाश्य ज्ञान और कला

यह बात बतायी जा चुकी है कि क्रोचेने किस प्रकार कुछ कलाकृतियोंमें स्वयम्प्रकाश्यका और कुछ स्वयम्प्रकाश्योंमें कलाकृतियोंकी विशेषताओंका निदर्शन प्रस्तुत करके स्वयम्प्रकाश्य ज्ञान अथवा अभिव्यञ्जक ज्ञानका सौन्दर्यात्मक या कलात्मक वस्तुके साथ तादात्म्य स्थापित किया है। परन्तु वहाँके ही कुछ दार्शनिकोंने इस सिद्धान्तका प्रत्याख्यान करते हुए कहा है कि "कला तो स्वयम्प्रकाश्य ज्ञान है, पर स्वयम्प्रकाश्य ज्ञान सर्वदा कला हो, यह आवश्यक नहीं। सामान्य स्वयम्प्रकाश्योंसे कलात्मक स्वयम्प्रकाश्य कुछ भिन्न प्रकारके होते हैं[3]। क्रोचेने इस वादका उत्तर देते हुए कहा है कि कुछ भिन्न प्रकारका

---

१. किन्तु जिन देशोंमें राग-रागिनियोंकी बँधी हुई धारणाएँ हैं उनके विषयमें क्रोचेका यह दृष्टान्त नहीं घटता।

2. It is nothing else (nothing more but nothing less) than to express.

एस्थे, पृ० १९

3. "Let us admit" (they say) "that art is int-

स्वरूप क्या है? यही न कि जिस प्रकार कुछ लोगोंने विज्ञानको सामान्य विचारक्षेत्रकी वस्तु न कहकर विचारोंका विचार कहा है उसी प्रकार आप कलात्मक स्वयम्प्रकाश्यको स्वयम्प्रकाश्योंका स्वयम्प्रकाश्य कह लीजिये। तात्पर्य यह कि आपके अनुसार कलाकी कल्पना संवेदनके स्वयम्प्रकाश्यमें प्रतिफलित होनेसे नहीं हुई, प्रत्युत स्वयम्प्रकाश्यके ही स्वयम्प्रकाश्यमें प्रतिफलित होनेसे हुई। परन्तु यह तर्क ठीक नहीं। जैसे विज्ञान अनुभवोंके आधारपर छोटे छोटे विचारोंकी स्थापना करता है और वे स्वतः पूर्ण होते हैं वैसे ही कभी-कभी वह अनेक लघु विचारोंके स्थानपर एक बड़े विस्तृत विचारका भी प्रतिष्ठापन कर लिया करता है। दोनों ही अवस्थाओंमें उसकी निर्माण-क्रिया अपनी एकरूपता अक्षुण्ण रखती हैं। ठीक यही बात स्वयम्प्रकाश्योंके लिए भी कही जाती है। आर्किमिडीजने अपने अजस्र परिश्रमके अनन्तर अनुसन्धानमें सफलता प्राप्त करनेपर जिस साकाङ्क्ष पद (युरेका) के द्वारा अपने तीव्र मनोवेगकी अभिव्यञ्जना की थी उसमें और किसी त्रासद नाटकके नेताकी अभिव्यञ्जनामें प्रकृति-भेद या आन्तर-भेदका बताना सम्भव नहीं। छोटी-छोटी अभिव्यञ्जनाएँ भी अपनेको प्रभावोंमें रूपान्तरित करके किसी विस्तृत स्वयम्प्रकाश्यमें ढल सकती हैं। अतएव जब कभी स्वयम्प्रकाश्य होंगे तो वे संवेदनों और प्रभावोंके ही होंगे। यह अवश्य है कि एक स्वयम्प्रकाश्यसे दूसरेमें विस्तार या मिश्रभावत्वका भेद दिखाया जा सकता है, परन्तु प्रकार-भेद या प्रकृति-वैषम्यकी स्थापना नहीं की जा सकती। एक स्वयम्प्रकाश्यसे दूसरेमें विस्तार-भेद मिल सकता है, किन्तु दोनों ही गहराई समान ही होगी[1]। इसी

---

uition, but intuition is not always art. Artistic intuition is of a distinct species differing from intuition in genenral by something more"

एस्थेटिक पृष्ठ २०

1. But since artistic function is more widely distributed in different fields, but yet does not

एकरूपत्वको दृष्टिमें रखकर क्रोचेने स्थापना की है कि कला संवेदनोंकी अभिव्यञ्जना है, न कि अभिव्यञ्जनाओंकी अभिव्यञ्जना[1] ।

क्रोचेका यह परिनिष्ठित मत है कि सामान्य स्वयम्प्रकाश्य तथा कलात्मक स्वयम्प्रकाश्यमें केवल मात्रा-भेद है । इसीलिए दार्शनिक होनेके कारण उन भेदों पर उन्होंने ध्यान नहीं दिया । वस्तुतः, दर्शनोंमें विभागके प्रयोजक गुण माने

---

differ in method from ordinary intuition, the difference between one and other is not intensive but extensive.

वही पृ० २२

तात्पर्य यह कि किसी ग्राम्य गीतकी सरल अभिव्यञ्जना अपने सहज रूपमें उसी गहराईसे निकली हुई और उतनी ही मोहक होगी जितनी प्रसाद या महादेवीकी जटिल तथा अलङ्कृत अभिव्यञ्जनाएँ ; परन्तु गहराईसे क्या भाव है ? उदाहरणके लिए हम संस्कृतका एक श्लोक उद्धृत करते हैं,—

या विभूतिर्दशग्रीवे शिरश्च्छेदेऽपि शङ्करात् ।
दर्शनाद्रामदेवस्य सा विभूतिर्विभीषणे ॥

इसीको गोस्वामी तुलसीदासने अपने शब्दोंमें कहा—

जो सम्पति सिव रावनहिं, दीन्ह दिये दसमाथ ।
सोइ सम्पदा विभीषनहिं, सकुचि दीन्ह रघुनाथ ॥

इन दोनों पद्योंमें एक ही अर्थ रहते हुए भी 'सकुचि' पदसे जो वैशिष्ट्य दोहेमें आ गया है उसे हम अनुभूतिकी गहराई कहें या विस्तार ? क्रोचेका तात्पर्य यदि इस गहराईको भी विस्तारमें परिगणित करता हो, तो ठीक है । अन्यथा उनका कथन ठीक कैसे कहा जा सकता है ?

1, Art is the expression of the impressions not the expression of the expressions.

वही, पृ० २१

गये हैं, पर संसारमें मात्रा-भेदको भी भेदक माना गया है और उसीके आधार-पर जिन लोगोंमें मनकी सङ्कुल एवं जटिल स्थितियोंको पूर्ण रूपसे अभिव्यञ्जित कर सकनेकी क्षमता होती है उन्हें हम कलाकार कहने लगते हैं। ऐसे ही कदाचित्क एवं विरलप्राप्य, मिश्र और जटिल अभिव्यञ्जनाओंसे युक्त कृतियों-को ही लोग कलाकृति की सञ्ज्ञा दे देते हैं। परन्तु क्रोचेकी दृष्टिमें यह सब बड़ा अन्याय है, तथापि अदार्शनिकों द्वारा प्रत्युक्त होनेसे क्षम्य भी। ऐसा भेद करनेसे कलाका सम्बन्ध हमारे मानसिक जीवनसे छूट जाता है तथा उसे एक अतात्विक विभाग या व्यापारके अन्तर्गत सीमित कर देना पड़ता है और ये सारी बातें कलाके मूल रूपकी प्रत्यभिज्ञामें बाधक सिद्ध होती हैं। जिस प्रकार परमाणु और परमाणुओंके सङ्घातमें एकरूपताका ज्ञान, पर्वत तथा शिलाखण्डमें एकात्मताकी प्रतीति, लघु जन्तु एवं वृहज्जन्तुके शरीरविज्ञानमें साम्यकी उपलब्धि हमें आश्चर्यजनक नहीं होती उसी प्रकार सामान्य और कलात्मक अभिव्यञ्ज-नाओंका ऐक्य हमारे लिए चमत्कारक न होना चाहिये[1]।

मनकी जिस प्रक्रियाके आधारपर क्रोचेने सामान्य अभिव्यञ्जना और कलात्मक अभिव्यञ्जनाओंके भेदका निराकरण किया है उसीके आधारपर उन्होंने सामान्य मनुष्य और कलाकारमें भी कोई अन्तर स्वीकार नहीं किया। दोनों-की अनुभूतियोंमें विस्तारका भेद, मात्राका वैषम्य ही होता है, गुण-भेद नहीं। जनश्रुतिमें प्रचलित 'कवियोंका निर्माण नहीं होता, वे जन्म लेते हैं' इस अप-

1. No one is astonished at finding in a lofty mountain the same chemical elements that compose tue small stone of fragment. There is not one physiology of small animals and one of large animals; nor is there any special chemical theory of stones as distinct from mountains. In the same way, there is not a science of lesser intuition distinct from a science of greater intuition, nor one of ordinary intuition distinct from artistic intuition.

वही पृ २३-२४

वादका क्रोचेने परिष्कार किया। उन्होंने कहा कि कवि जन्मसे कवित्वशक्ति लेकर उत्पन्न होते हैं, इतना ही कहना ठीक नहीं। मनुष्य जन्मसे ही कवि पैदा होता है[1]। यहाँ कवि कलाकार मात्रका उपलक्षण है।

क्रोचेने इस लोकोक्तिपर विचार किया है कि कलात्मक अभिव्यञ्जना अचेतनावस्थामें होती है, अतएव कवि पागल होते हैं। उनका कहना है कि अन्य मानवव्यापारोंकी भाँति कलाकारोंका व्यापार भी चैतन्यपूर्वक होता है। यदि ऐसा न हो तो वह भी यन्त्रोंकी भाँति जड़ होगा। इतना अवश्य है कि कलाकारकी चेतनामें बिम्बग्राहयित्री विशेषता होती है जो इतिहासकारों और समालोचकोंकी चेतनामें नहीं पायी जाती[2]।

द्रव्य अथवा वस्तु एवं रूप या साँचेके सम्बन्ध-विषयमें विचार करते हुए क्रोचेने यह कहा है कि द्रव्य वह भावात्मकता है जो कलात्मक दृष्टिसे विजृम्भित न की गयी हो अर्थात् प्रभाव या अन्तःसंस्कार, और साँचा है–विजृम्भण, बौद्धिक व्यापार या अभिव्यञ्जना[3]। अतः जो लोग सौन्दर्यको वस्तुगत या अभिव्यङ्ग्यगत, अथवा अभिव्यञ्जना और अभिव्यङ्ग्य उभयगत कहते हैं उनकी बात अस्वीकार्य है। सौन्दर्य वस्तुतः अभिव्यञ्जना ही है, और कुछ नहीं।

---

1. It was well to change 'poeta nascitur' into 'homo nascitur poeta'.

पृ० २४

2. The only thing that may be wanting to artistic genius is the reflective conciousness, the superadded conciousness of the historian or critic which is not essential to artistic genius.

पृ० २५

3. Matter is understood as emotivity not aesthetically. elaborated, that is to say impression and form elaboration, intellectual activity and expression,

वही पृ० २५–२६

जिस प्रकार छन्नी विशेष (फिल्टर) से छनकर आनेवाले पानीमें अपने रूप-से समता भासित होती है, पर वैज्ञानिक दृष्टिसे उन दोनोंसे गुण-भेद उपस्थित हो जाता है उसी प्रकार वस्तु या द्रव्य भी चेतनके व्यापारसे रूपित अथवा अभिव्यञ्जित होकर अपने पूर्वरूपसे गुणोंमें विभिन्न हो जाते हैं। अभिव्यङ्ग्य और अभिव्यञ्जनाके गुणोंमें कोई सम्बन्ध नहीं रह जाता [1]।

उपर्युक्त तथ्योंकी विवृतिके लिए तुलनात्मक समीक्षा प्रस्तुत की जाती है। यहाँतक यह सिद्ध किया जा चुका है कि क्रोचे कलाको अभिव्यञ्जना ही मानते हैं। कलाओंमें कविता भी आती है। अतएव वह भी कला हुई। कलात्मक अभिव्यञ्जनाका भी स्वयम्प्रकाश्य ज्ञान अर्थात् प्रथम मानस व्यापार-से तादात्म्य है। अतः कविता भी व्यापाररूप हुई। कुन्तक भी काव्यजीवित तथा वैदग्ध्यभङ्गीभणिति वक्रोक्तिको काव्यक्रियालक्षण-व्यापार कहते हैं। केवल इस व्यापारांशमें क्रोचे और कुन्तक एकमत हैं। परन्तु इसके आगे जितना विचार किया जायगा दोनोंमें उतना ही वैषम्य दिखाई पड़ेगा—ठीक उसी प्रकार जैसे क्रोचे और कुन्तक नामोंमें केवल ककारका ही साम्य है। उदाहरणार्थ क्रोचेकी अभिव्यञ्जना अर्थात् स्वयम्प्रकाश्य ज्ञान चेतनकी अपनी क्रिया है, पर कुन्तकका कविक्रियालक्षण-व्यापार प्रत्यक्चैतन्यभिन्न चिच्छायापन्न मनकी क्रिया है[2]।

क्रोचे अभिव्यञ्जनामें ही काव्यत्व मानते हैं। उनके पोषक तथा समीक्षक नैषधीयचरित तथा कादम्बरी आदिका उदाहरण देकर रचना-नैपुण्यमें ही काव्यत्व दिखानेका प्रयास करते हुए कवीन्द्र रवीन्द्रका हवाला देते हैं।

1. …but there is no passage between the quality of the content and that of the form.

एस्थेटिक पृ० २६

२ कुन्तकने अपने दार्शनिक पक्षका समावेश 'वक्रोक्तिजीवित'में कहीं नहीं किया है, परन्तु मङ्गलाचरण और काश्मीर पण्डित मण्डलीकी परम्परा-से ये शैवागमवादी माने जाते हैं। अतः उस दर्शनके अनुसार ही हमने क्रोचेसे भेद दिखानेके लिए प्रस्तुत व्याख्या की है।

परन्तु हमारा विचार यह है कि उक्त दोनों काव्योंमें कथावस्तुकी अल्पता स्वीकार कर लेनेपर भी अभिव्यङ्गय पक्षकी न्यूनता प्रमाणित नहीं की जा सकती। इसका कारण यह है कि क्रोचेने अपने वादमें जिस अभिव्यङ्गयका प्रत्याख्यान किया है उससे काव्यमें वर्णित, लक्षित, व्यञ्जित इन सभीका प्रत्याख्यान हो जाता है। कथावस्तु तो सम्पूर्ण वर्णनीय भी नहीं, वर्णनका एक अंशविशेष है। अतः उसके आधारपर उक्त काव्योंके अभिव्यङ्गय पक्षकी कमी कैसे सिद्ध की जा सकती है? उदाहरणार्थ कादम्बरीके पूर्व भागमें बाणभट्टने कथावस्तु नामके लिए ही रखी, परन्तु दो बार राजविभव-विलासका वर्णन, दो बार विमल-जल-परिपूर्ण सरोवरोंका वर्णन, विरहिणी महाश्वेताका निदर्शन, कमनीय कलेवरा कादम्बरीका प्रदर्शन, ऋषियों तथा उनके आश्रमोंका उपस्थापन तथा और भी पचीसों प्रकारके वर्णनोंका जैसा सन्निवेश उन्होंने किया है उसके अनुशीलनसे अभिव्यङ्गयकी परिपूर्णताका अपलाप नहीं किया जा सकता। अस्तु, अभिव्यङ्गयकी अवहेलापर किसी कृतिका निर्माण हो सकता है, यह कहना असत्य तथा भ्रान्तिसे खाली नहीं। कवि ठाकुरके इस सवैयेको देखिए,—

वा निरमोहिनि रूपकी रासि जऊ उर हेतु न ठानति ह्वै है।
बारहिं बार बिलोकि घरी घरी सूरति पहिचानति ह्वै है।
ठाकुर या मनको परतीति है जो पै सनेह न मानति ह्वै है।
आवत है नित मेरे लिए इतनो तो विसेष कै जानति ह्वै है॥

इसपर पण्डित रामचन्द्र शुक्लकी आलोचना बड़ी मार्मिक है। अतः उसे ज्योंका त्यों हम दिये देते हैं—"इसमें अपने प्रेमका परिचय देनेके लिए आतुर किसी प्रेमीके चित्तके 'वितर्क'की कैसी सीधी-सादी व्यञ्जना है। इसमें आयी हुई बातें 'इतिवृत्तमात्र'की दृष्टिसे फालतू हैं। 'इतिवृत्त'का मतलब है 'इतनी ही तो बात है।' कहनेवाला व्यक्ति व्यर्थ वे सब बातें कहने न जायगा जो इस सवैयेमें हैं।" अतः 'कथावस्तु कम रहनेपर भी समर्थ कवि अपना सहृदयाह्लादकर्तृक कौशल दिखा सकता है' इस कथनका यह अर्थ कदापि नहीं हो सकता कि उस कविकी अभिव्यञ्जनाओंमें अभिव्यङ्गय पक्ष रहता ही नहीं

या गौण रूपमें रहता है। अधिक क्या कहें, कमसे कम वक्रोक्तिजीवितकार उस कृतिको काव्य नाम देनेमें भी सङ्कोच करेंगे जिसमें अभिव्यञ्जना ही सब कुछ है, अभिव्यङ्ग्य कुछ नहीं। उनके काव्यका लक्षण है कि 'काव्यतत्त्वमर्मज्ञों-को आनन्ददेने वाले, वक्रतापूर्ण कवि-व्यापारसे युक्त बन्धमें व्यवस्थापित शब्द और अर्थ एक होकर काव्य कहलाते हैं[1]।' इस लक्षणमें आये हुए अर्थका तात्पर्य अभिव्यङ्ग्यसे है अर्थात् शब्द जिन पदार्थोंके बोधार्थ प्रवृत्त होते हैं उनसे अर्थका तात्पर्य है। कुन्तकने अपने इस लक्षणकी वृत्तिमें लिखा है– 'शब्दार्थौ काव्यम्, इत्यत्र द्वावेकमिति वैचित्र्योक्तिः' अर्थात् जिस व्यापारमें शब्द और अर्थ=अभिव्यञ्जना तथा अभिव्यङ्ग्य मिलकर एकरूप हो जाते हैं वही काव्य है और वक्रोक्ति भी यही है कि दो एक हो गये। यहाँ चमत्कार या वैचित्र्यका वही भाव है जिसे बादमें महापात्र विश्वनाथ कविराजने 'चमत्कारः चित्तविस्फाररूपो विस्मयापरपर्यायः' लिखकर स्पष्ट किया। इस बातकी झलक कुन्तकके विचित्र मार्गके निरूपणमें मिलती है जिसका विवेचन यथावसर किया गया है। यह चमत्कार तत्त्व सहृदयहृदयवेद्य है और ये ही इस शास्त्रके परम प्रमाण ठहरे। ऐसी स्थितिसे चाहे यह तत्त्व किसीको रुचे या न रुचे, मानना ही पड़ेगा। आचार्य पं० रामचन्द्र शुक्लने जिस चमत्कारका उपहास किया है उसकी भी चर्चा हम 'विचित्र मार्ग'के विचारके अवसरपर कर चुके हैं। इस प्रकार हम देखते हैं कि क्रोचे काव्यमें शब्दको ही प्राधान्य देते हैं, क्योंकि काव्यकी अभिव्यञ्जना शाब्दी ही हो सकती है। परन्तु कुन्तक शब्दार्थके असम्भिन्न रूपमें ही काव्यकी प्रतिष्ठा करते हैं, सम्भिन्न रूपमें नहीं।

पं० रामचन्द्र शुक्लने भी उपर्युक्त तथ्यको इस प्रकार कहा है–"अभिव्यञ्जनावादके अनुसार कलामें अभिव्यञ्जना ही सब कुछ है, अभिव्यञ्जनासे अतिरिक्त कोई अभिव्यङ्ग्य वस्तु या अर्थ नहीं होता। काव्यकी गिनती भी कलाओं-में ही की गयी है। अतः काव्यमें उक्तिसे अलग कोई दूसरा अर्थ, दूसरी वस्तु,

---

१. शब्दाऽर्थौ सहितौ वक्रकविव्यापारशालिनि।
बन्धे व्यवस्थितौ काव्यं तद्विदाह्लादकारिणि॥

वक्रोक्तिजीवित १,७

तथ्य या भाव नहीं होता। काव्यकी उक्ति किसी दूसरी उक्तिकी प्रतिनिधि नहीं। जो अर्थ किसी दूसरी उक्तिके शब्दोंसे निकलता है उसका सम्बन्ध किसी दूसरे अर्थसे नहीं होता। साहित्यकी परिभाषामें इसे यों कह सकते हैं कि काव्यमें वाच्यार्थका कोई व्यङ्गयार्थ नहीं होता।"

हमारे यहाँ भी वक्रोक्तिजीवितकार कुन्तक तथा व्यक्तिविवेककार महिमभट्ट ये दो अभिधावादी आचार्य हुए हैं। किन्तु फिर भी इन दोनोंके अभिधा-विचारमें पर्याप्त भिन्नता है। पहले कुन्तकको लीजिये। उन्होंने अपने काव्य-लक्षणमें आये हुए शब्द और अर्थके स्पष्टीकरणके लिए आठवीं और नवीं कारिकामें लिखा कि यद्यपि वाच्य अर्थ और वाचक शब्द प्रसिद्ध ही हैं, तथापि इस अलौकिक काव्यमार्गमें यह परमार्थ अर्थात् किसी प्रकारका अपूर्व तत्त्व है कि अन्य वाचकोंके रहते हुए भी शब्द विवक्षितार्थैकपरतन्त्र होता है तथा अर्थ सहृदयाह्लादकर्तृत्वरूप स्पन्दसे सुन्दर होता है[1]। उदाहरणार्थ प्रस्तुत घनाक्षरीपर विचार कीजिये,—

झहरि झहरि झीनी बूँदनि परति मानों
घहरि घहरि घटा घेरी है गगन मैं।
वाही समय स्याम मो सों कह्यो झूलिबे को आय
फूली न समानी भई ऐसी हों मगन मैं।
चाहत उठ्योई उठि गयी सो निगोड़ी नींद
सोय गये भाग मेरे जागि वा जगन मैं।
आँखि खोलि देखौं तौ न घन हैं न घनस्याम
वेई छायी बूँदें मेरे आँसु ह्वै दृगन मैं।

इसके तृतीय चरणके जितने शब्द हैं वे अन्य वाचकोंके रहते हुए भी

१, वाच्योऽर्थो वाचकः शब्दः प्रसिद्धमिति यद्यपि।
तथापि काव्यमार्गेऽस्मिन् परमार्थोऽयमेतयोः॥
शब्दो विवक्षितार्थैकवाचकोऽन्येषु सत्स्वपि।
अर्थः सहृदयाह्लादकारिस्वस्पन्दसुन्दरः॥

वक्रोक्तिजीवित १,८-९

विवक्षितार्थैकपरतन्त्र हैं। यदि उन्हें हटाकर पर्याय शब्द रखे जायँ तो काव्यका स्वारस्य नष्ट हो जायगा। उसी प्रकार अर्थका परिस्पन्द भी सहृदयहृदयवेद्य है। द्वितीय चरणमें हर्ष वाच्य होकर औत्सुक्य तथा चपलताकी व्यञ्जना करता है। तृतीय चरणमें असङ्गति और विरोधाभासके सहारे अमर्ष एवं विषादकी व्यञ्जना होती है। अन्तिम चरणके अनुभावोंसे इस विषादकी पुष्टि होती है। इस प्रकार ये सभी बातें कुन्तककी विशिष्टाभिधामें आ जायेंगी, क्योंकि आठवीं कारिकाकी वृत्तिमें उन्होंने स्वयं कहा है कि अर्थप्रतीतिसामान्योपचारसे अभिधामें ही लक्षणा और व्यञ्जनाका भी अन्तर्भाव हो जाता है[1], परन्तु व्यक्तिविवेककार शब्दकी केवल अभिधा शक्तिको ही स्वीकार करते हैं[2]। लक्षणाका मूल तो अभिधा ही ठहरी, क्योंकि बिना वाच्यार्थके अनुपपन्न हुए लक्षणाका अवकाश ही नहीं है तथा व्यञ्जना अनुमानसे अतिरिक्त और कोई वस्तु है इसे महिमभट्ट मानते नहीं। कुन्तक चमत्कारकी दृष्टिसे शब्द और अर्थके प्रत्येक अंशमें वक्रताकी प्रतिष्ठा मानते हैं, किन्तु महिमभट्ट उपायमें नहीं, उपेयमें ही, साधनमें नहीं, साध्यमें ही चमत्कार मानते हैं। उनकी दृष्टिसे वस्तु, अलङ्कार, रस इनमेंसे जो भी उपेय-कोटिमें रहेगा उसीकी प्रधानता सदा रहेगी, दूसरेकी नहीं। किस प्रकार इन दोनों व्यक्तियोंने समग्र ध्वनि-प्रपञ्चको अपने विचार-प्रस्तारमें ग्रहण करनेका श्रम किया है, इसे दिखाया जा चुका है। सम्प्रति, इन दोनोंका स्थूल भेद इसलिए समझ लेना चाहिये जिससे शुक्लजीने जो क्रोचेके सिद्धान्तका निष्कर्ष निकाला है उससे पार्थक्य स्पष्ट किया जा सके।

---

१. एवं विधं वस्तुप्रसिद्धं प्रतीतम् यो वाचकः सः शब्दः यो वाच्यश्चाभिधेयः सोऽर्थ इति। ननु च द्योतकव्यञ्जकावपि शब्दौ सम्भवतः, तदसंग्रहान्नाव्याप्तिः, यस्मादर्थप्रतीतिकारित्वसामान्यादुपचारात्तावपि वाचकावेव। एवं द्योत्यव्यङ्ग्ययोरर्थयोः प्रत्येयत्वसामान्यादुपचाराद्वाच्यत्वमेव।

वक्रोक्तिजीवित पृ० १५

२. अर्थस्यैकाभिधा शक्तिः

व्यक्तिविवेक १।२७

क्रिया अव्यवहित गतिसे चलती रहती है वैसे ही यहाँ भी मन मूर्तियोंका विधान किया करता है[1]। अब यदि हम इसको वेदान्तशास्त्रकी दृष्टिसे रजोगुणविशिष्ट अवस्था कहें तो भ्रान्ति न होगी, क्योंकि निर्माण–क्रिया इसी गुणके अधीन मानी गयी है। फिर भी यह समीक्षा व्यापारको आधार मानकर की जा रही है। वैसे तो वेदान्त या सांख्यमें चेतन अथवा पुरुषकी स्थिति कूटस्थ मानी गयी है। अतः उसमें व्यापारकी सम्भावना ही नहीं है। जिस मनको उन्होंने सत्त्व, रज, और तम–इन तीन गुणोंसे युक्त माना है वह प्रकृतिका परिणाम है, चेतनका नहीं। अतएव व्यापार मात्रको साम्यका आधार बनाकर उक्त बात कही गयी है। अब रसानुभूतिको लीजिये। इसकी अलौकिकताका आधार भी दार्शनिक है।

संसारमें प्रत्येक व्यक्तिकी प्रवृत्ति उद्देश्यमूलक ही होती है। इस उद्देश्यमें मनुष्योंका एक वर्ग बाह्यार्थदृष्टिप्रधान अर्थात् भौतिक जगत्को ही सर्वस्व मानकर चलनेवाला होता है और दूसरा आत्मदृष्टिप्रधान अर्थात् आभ्यन्तरको ही सब कुछ मानकर प्रवर्तन करनेवाला होता है। ये दोनों तत्त्व जीवनको धारण करनेवाले होनेके कारण धर्म कहे जा सकते हैं। परन्तु भारतवर्षमें आत्मदृष्टिप्रधान वर्ग ही प्रतिष्ठित रहनेके कारण तदनुरूप ही धर्मकी परिभाषाएँ बनी हैं। यद्यपि भारतका धर्म प्रवृत्ति तथा निवृत्तिमार्ग-भेदसे दो प्रकारका है, तथापि दोनोंमें ही आत्मदृष्टिप्रधानता समानरूपसे विद्यमान है।

---

१. यह तो हुई कविके अनुभूतिकी बात। सहृदयपक्षकी अनुभूतिपर विचार करते हुए क्रोचेने कहा है कि किसी अभिव्यञ्जनाकी भावना पाठकको पहले उन प्रभावोंतक ले जाती है जिन्हें कविके स्वयम्प्रकाश्यने अपना विषय बनाया था। उन प्रभावोंके जागरित होते ही पाठकके चेतनकी प्रथम तथा मुख्य क्रिया उन्हें मूर्तरूप दे देती है, ठीक उसी रूपमें अभिव्यञ्जित कर देती है जिस रूपमें कविने उन्हें रूपित किया था। इस व्यापारके सम्पन्न होते ही आनुषङ्गिक आनदन्की उपलब्धि भी होती है और अलौकिक-जन्य होनेके कारण वह भी अलौकिक कही जाती है।

भारतीय धर्म या संस्कृतिका यही मेरुदण्ड है । इसीसे शास्त्र और काव्य दोनोंमें ही इस तत्त्वकी झलक हमें सर्वत्र मिलती है। यदि हम आधुनिक कालके अनुसार भारतीय सांस्कृतिक परपम्पराके समय-विभागको स्वीकार करें तो ज्ञात होगा कि वैदिक कालमें जो हमारे काव्य थे वे ही हमारे शास्त्र भी थे, किन्तु स्मृतिकालतक आते-आते काव्य और शास्त्रका विभाग हो गया । अब फिर उनमें एकलक्ष्यावगमत्व लानेका प्रयास हुआ । यही कारण है कि जिस प्रकार दर्शनशास्त्रों और आयुर्वेदशास्त्रोंने अग्र्या बुद्धिप्रसूत उपनिषदोंके 'रसो वै सः'का अपना अर्थ लगाया उसी प्रकार साहित्यशास्त्रने भी पर्यालोचनपूर्वक उसमें स्व अर्थकी स्थिति दिखायी गयी । यह प्रतिष्ठापन कार्य भी ध्यान देने योग्य है । नित्य-शुद्ध-बुद्ध-स्वरूप प्रत्यक्-चैतन्याभिन्न आत्मा विक्षेपावृतिरूपवाली त्रिगुणात्मिका अविद्याके सूक्ष्म परिवारमें चिच्छाया पत्तिसे अहङ्काररूपमें भासित हुआ करता है। काव्यभावनासे रसतत्त्वके उद्रिक्त हो जानेके कारण यह अहङ्कार तथा तत्सम्बन्धी रजोगुण और तमोगुण भी तिरोहित हो जाते हैं । आत्माकी यह निर्मुक्त अवस्था योगशास्त्रकी असम्प्रज्ञात समाधिकी स्थितिसे मिलती है—केवल इस विशेषताके साथ कि अन्तःकरणकी यह वृत्ति काव्यानुशीलनकालमें अकेली न रहकर विभावों द्वारा जागरित, अनुभवों द्वारा उद्दीपित, सञ्चारियों द्वारा परिपुष्ट स्थायी भावके साथ आत्माके आन्दरूपसे संवलित हो जाती है । अतः सौन्दर्यानुभूति और रसानुभूतिका सबसे बड़ा अन्तर यह है कि एकमें रजोगुणात्मक स्थिति रहती है और दूसरेमें सत्त्वगुणात्मक । एकमें चेतन विक्षेप-प्रधान है, दूसरेमें सच्चिदानन्द-स्वरूप कूटस्थ । पहलीमें आनन्दकी अनुभूति आनुषङ्गिक है, परन्तु दूसरी आनन्दरूप ही है । एक अन्तर और भी है । वह यह कि सौन्दर्यानुभूति कवि-सहृदय उभयनिष्ठ होती है, परन्तु रसानुभूति केवल सहृदय-निष्ठ । यह अवश्य है कि कवि अपनी निर्माण-क्रियासे अतिरिक्त अवस्थामें उसका आस्वाद प्राप्त कर सकता है, किन्तु कविकर्मके अवसरपर नहीं, क्योंकि उस समय उसकी वृत्ति रजोगुणात्मक होनेसे आत्माके आनन्दरूपसे एकाकार नहीं होने पाती[1] ।

---

१. इसीसे जो काव्यानुभूति और रसानुभूतिमें भेद करना चाहते हैं वे

इस प्रकार हमने देखा कि क्रोचेने किस प्रकार अभिव्यञ्जना तथा कला-की एकात्मकता प्रतिपादित की और उसका भारतीय साहित्यसे किन-किन अंशों-में और कहाँतक सम्बन्ध स्थापित किया जा सकता है। अब हम कलाकी उत्पत्तिके विषयमें प्रचलित सिद्धान्तोंपर क्रोचेकी आलोचनाओंका उपस्था-पन करेंगे।

प्राचीन ग्रीक दार्शनिकोंके आदर्शपर यूरोपका एक सम्प्रदाय कलाको प्रकृतिकी अनुकृति मानता है। क्रोचेका विचार है कि यदि इस अनुकृतिका तात्पर्य प्रकृतिका स्वयम्प्रकाश्य ज्ञान या मूर्तिविधान हो अर्थात् ज्ञानका एक विशेष प्रकार हो तब हम उसे स्वीकार करेंगे; परन्तु चैतन्य व्यापारके सम्पर्क-से यद्यपि अनुकृतिका स्पष्टीकरण हो जाता है, तथापि इसी आधारपर प्रकृति-का आदर्शीकरण कला है, यह भी स्वीकार करना पड़ेगा। यदि अनुकरणका भाव प्रकृतिकी ऐसी प्रतिकृतियाँ प्रस्तुत करना हो जिनसे उसी प्रकारकी प्रेरणा हमारे प्रभावोंको मिले जैसी प्राकृत वस्तुओंको देखनेसे होती है तब यह अनुकरणका सिद्धान्त क्रोचेको मान्य नहीं, क्योंकि सर्वप्रथम ऐसी प्रतिकृतियाँ प्रस्तुत करना ही कठिन है। यदि हो भी जायँ तो उन्हें यन्त्रोंकी भाँति जड़ ही समझना चाहिये क्योंकि मानस व्यापारसे उनका परिष्कार नहीं हुआ है। अतः द्वितीय प्रकारकी अनुकृति कलाकी कलनाके अयोग्य है।

स्वयम्प्रकाश्य व्यापाराश्रयी सौन्दर्यानुभूति और रसानुभूतिकी तुलनामें दोनोंका अन्तर दिखाया जा चुका है। इस प्रसङ्गमें आकर स्वयम्प्रकाश्य व्यापारके क्षेत्रमें आश्चर्य और भ्रमके सर्वथा निष्कासित करनेके फलस्वरूप भी

भ्रममें हैं। भारतीय साहित्यमें काव्यका लक्ष्य रस, 'चित्तविस्फार-रूपविस्मयापरपर्याय' चमत्कार उत्पन्न करना ही है। किन्तु उसमें सफल न होनेपर कवि उससे कुछ निकृष्ट कोटिकी अनुभूति जागरित करते हैं। अतः ऐसी दशामें ये दोनों नाम एक ही सहृदयनिष्ठ अनुभूतिके हैं। काव्यानुभूतिका तात्पर्य कविहृदयानुभूति और रसानु भूतिका सहृदयानुभूति कभी नहीं हो सकता। विशेष द्रष्टव्य— 'वक्रोक्ति और रीतिका विवेचन' पृ० १०२

एक अन्तर उपस्थित होता है। भारतीय साहित्यमें आरम्भसे आजतक किसीने इसके रसत्वका खण्डन नहीं किया। विश्वनाथ कविराजके पितामह पण्डित नारायण भट्टने अवश्य इसे सभी रसोंके मूलमें स्थापित करनेकी चेष्टा की थी, पर वे असफल रहे। अद्भुतका स्थायी भाव विस्मय या आश्चर्य माना गया है जो किसी वीरके प्रचण्ड पराक्रमको देखकर या सुनकर उद्बुद्ध होता है। उदाहरणके लिये इस सवैयेको लीजिए,—

लीन्ह्यो उखारि पहाड़ विसाल चल्यो मगु नेकु बिलम्ब न लायो।
मारुतनन्दन मारुतको, मनको, खगराजको, वेग लजायो।
तीखी तुरा कहतो तुलसी, पै हिये उपमाको समाऊ न आयो।
मानों प्रतच्छ परब्बतकी नभ लीक लसी कपि यो धुकि धायो॥

इस सवैयेमें प्रचण्डविक्रम महावीर द्वारा खगोलके मध्यमें स्वभावसिद्ध व्यापारके आधारपर पर्वतकी एक लकीरकी योजना निस्सन्देह अद्भुत है। इसमें चित्तवृत्ति रम जाती है, भले ही वह चेतनाके कारखानेसे नयी-नयी मूर्तियोंका विधान न करे। अब भ्रमपर विचार कीजिये। हम भी यह मानते हैं कि कला या साहित्यमें भ्रम प्रयोजनीय वस्तु नहीं है। इस क्षेत्रमें क्या, कहीं भी भ्रम फैलाना ठीक नहीं है। परन्तु लोकमें भी और काव्यमें भी कहीं-कहीं यह भ्रम भी चमत्काराधायक होकर प्रयोज्य होता है। लोकमें मनोरञ्जनके लिए इन्द्रजालके तमाशे प्रसिद्ध ही हैं। काव्यमें यह भ्रम हमारे भावोंको अधिक तीव्र और उद्दीपित करता हुआ मिलता है, जैसे अभिज्ञान शाकुन्तलके सप्तम अङ्कमें। सर्वदमन दुष्यन्तके समक्ष स्तनपान करते हुए सिंहिनीके बच्चोंके केसरोंको पकड़कर बलात् खींच रहा है। शकुन्तलाकी सखियाँ उसे इस कामसे रोक रही हैं, पर वह मानता नहीं। इतनेमें एक सखी उसे बहलानेके लिए काठका पक्षी लाकर कहती है—"वत्स, शकुन्तलावण्यको देखो।" बच्चा शकुन्तलासे अपनी माँको समझता है और चट उसकी ओर देखता है। अब बताइये कि बच्चेका यह भ्रम स्वाभाविक होनेसे सहृदयोंके वात्सल्यको उद्दीप्त करता है या नहीं? यदि करता है तो फिर बेखटके कहा जा सकता है कि भ्रम भी साहित्यमें प्रयोज्य है, पर भारतीय

दृष्टिसे। क्रोचेकी शान्तिपूर्ण चेतनाके वातावरणमें इनका अवकाश ही नहीं। अस्तु।

कुछ लोग कलाका सम्बन्ध भावोंसे जोड़ते हैं। इनमें भारतीय परम्पराके रसवादी भी आते हैं तथा आधुनिक पाश्चात्य साहित्यशास्त्री आई. ए. रिचर्डस्की शृङ्खलाके पूर्व तथा उत्तरवर्ती अनुयायी भी। क्रोचेका कहना है कि वे ही लोग कलाका सम्बन्ध भावोंसे जोड़ते हैं जिन्हें स्वयम्प्रकाश्य व्यापारके सैद्धान्तिक गुणोंका यथावत् परिज्ञान नहीं है। लोग समझते हैं कि प्रमा ही ज्ञान है तथा विषयेन्द्रियसंयोगजन्य प्रत्यक्ष ही सत् है। ये ही विचार उन्हें स्वयम्प्रकाश्यको समझने देनेमें बाधक होते हैं। वस्तुतः स्वयम्प्रकाश्य भी एक प्रकारका स्वतन्त्र ज्ञान है और उक्त प्रकारके प्रत्यक्षसे भी अधिक सरल है। क्रोचेने इन्हीं वस्तुओंको बड़े विस्तारसे समझाया है जिन्हें सङ्क्षेपमें हमने पूर्व ही उपस्थित किया है। यदि हम क्रोचेकी उन उपपत्तियोंको स्वीकार कर लें तो फिर कलाका सम्बन्ध भाव अथवा मानस द्रव्य या अंतःसंस्कारसे नहीं जोड़ा जा सकता, क्योंकि स्वयम्प्रकाश्य ज्ञान अर्थात् मानस व्यापारके मध्यमें पड़ जानेसे उनमें गुण-भेदकी उपस्थिति हो जाती है तथा सम्बन्ध तो मात्रा-भेदवालोंमें ही दिखाया जा सकता है। जिन सौन्दर्यशास्त्रियोंने कलाको आभास कहा है उनकी धारणाके विश्लेषणमें क्रोचेको प्रत्यक्षकी जटिलताका वारण तथा स्वम्यप्रकाश्यका प्रतिपादन ही मिला है। यही कारण है कि कुछ लोगोंने कलाको स्थायीभाव भी कहा है। क्रोचेका कहना है कि यदि कलामेंसे अभिव्यङ्ग्य पक्ष और ऐतिहासिक सत्यता हटा दी जाय तो फिर इस वृहत्प्रयास स्थायीभावको सब प्रकारकी स्पष्टता और सरलतासे विषय करनेपर अर्थात् आलोचित करनेपर शुद्ध स्वयम्प्रकाश्यसे अतिरिक्त और कुछ न पाया जायगा[1]।

1. In fact, if the concept as content of art, and historical reality as such, be excluded, there remains no other content than reality apprehended in all its ingenousness and immid-

एक सम्प्रदायने सौन्दर्यबोधका सिद्धान्त चलाया है। क्रोचेका विचार है कि ये लोग भी अभिव्यञ्जनाको प्रभावोंसे पृथक् तथा रूपको द्रव्यसे भिन्न न समझनेके कारण ही इस सिद्धान्तसे ग्रस्त हैं। वस्तुतः इन लोगोंका प्रयास अभिव्यञ्जना और अभिव्यङ्ग्यके गुणोंमें सम्बन्ध स्थापित करना है। यदि सचमुच पूछा जाय कि सौन्दर्यबोध क्या वस्तु है, तो इससे उन प्रभावोंका ग्रहण होगा कि जो सौन्दर्यात्मक अभिव्यञ्जनाके योग्य हैं। यदि यह प्रश्न हो कि किस प्रकारके प्रभाव सौन्दर्यात्मक अभिव्यञ्जनाओंके योग्य हैं तथा किस प्रकारके योग्य नहीं हैं तो क्रोचेका कथन है कि सभी प्रकारके प्रभावोंकी सौन्दर्यात्मक व्यञ्जनाएँ तथा रूपनिर्मितियाँ हो सकती हैं, परन्तु किसी प्रभावके लिए यह आवश्यक नहीं है कि वह अभिव्यञ्जित या रूपित हो[१]। डांटेने नेत्रेन्द्रियजन्य प्रभावोंको ही नहीं, अपितु स्पर्शेन्द्रियजन्य प्रभावोंको भी अभिव्यञ्जनाके सौभाग्यका अधिकारी बताया है। इसीसे क्रोचेका विचार है कि किसी चित्रदर्शनके समय सामान्य रूपसे देखना मात्र समझना भ्रम है। दर्शन-क्रियाके साथ ही चित्रितके कपोलोंकी लालीका, स्वस्थ शरीरकी ऊष्माका, एक फलकी प्रत्यग्रता और मधुरताका प्रभाव भी हमपर पड़ता है। इन्हें हम केवल दर्शनजन्य नहीं कह सकते[२]। यदि मान भी लें तो एक ऐसे व्यक्तिकी कल्पना कीजिये जिसकी सभी अथवा अनेक इन्द्रियाँ हैं ही नहीं। दैवात् किसी चित्रके सामने आते ही उसकी नेत्रेन्द्रिय अपनी पूर्णशक्तिसे काम

---

iateness in the vital effort, in sentiment that is to say pure intuition.

एस्थे पृ० ३०

1. To this we must at once reply, that all impressions can enter into aesthetic expression or formation, but that none are bound to do so.

एस्थे. पृ० ३०

२. न्यायशास्त्रमें इसे 'ज्ञानलक्षणसन्निकर्ष' कहते हैं।

करने योग्य हो जाती है । अब जिस चित्रको हम समझ रहे थे कि हम देख रहे हैं वह उक्त व्यक्तिको चित्रकार द्वारा लीपे-पोते रङ्गसे कुछ अधिक न दिखाई देगा । यह यदि दूरान्वयी कल्पना समझमें न आती हो तो किसी निपट गँवारके समक्ष अत्यन्त ललित वर्णावलीकी स्थिति ध्यानमें लाइये । उस व्यक्तिको वह वर्णावली चिड़ियाकी टाँगसे अधिक सुन्दर न जँचेगी ।

कुछ लोगोंका विचार है कि सौन्दर्य-बोधमें नेत्रज और शब्दज प्रभावोंका सीधा सम्बन्ध है तथा अन्य इन्द्रियजन्य प्रभाव सम्पर्कवश उनमें आते हैं । परन्तु क्रोचे कहते हैं कि सौन्दर्यात्मक अभिव्यञ्जना एक प्रकारकी योजना है, जिसमें सीधे सम्बन्ध तथा सम्पर्कका भेद नहीं किया जासकता[1] । वस्तुतः चाहे जिस इन्द्रियका प्रभाव हो सौन्द्रर्यबोधात्मक व्यापार, पर सब प्रभाव एक ही श्रेणीमें बिठा दिये जाते हैं । जब कोई व्यक्ति किसी चित्र अथवा कविताकी मूर्तिका अनुभव करता है तब उसे उस मूर्तिसे सम्बद्ध प्रभावोंकी एक शृङ्खला अनुभूत नहीं होती जिसमें कुछ सक्रम तथा कुछ अपने अधिकारोंको दूसरेमें सङ्क्रमण करनेवाले होते हैं[2] । इस अनुभवके पूर्वमें क्या स्थिति रहती है, इसका पता नहीं बताया जा सकता । अनुभवके उत्तरकालमें विचारपूर्वक जो भेद बताये जाते हैं उनका कलासे कोई सम्बन्ध ही नहीं ।

सौन्दर्यबोधके सिद्धान्तमें कुछ लोग शारीरिक इन्द्रियोंकी भी प्रयोजकता

---

1. Aesthetic expression is a synthesis, in which it is impossible to distinguish between direct and indirect.

एस्थे. पृ० ३१

2. He who takes into himself the image of a picture or of a poem does not experience, as it were, a series of impressions as to this image, some of which have a perogative or precedence over others.

एस्थे. पृ० ३१

मानते हैं, परन्तु क्रोचेने इसका खण्डन किया है, क्योंकि शारीरिक इन्द्रियाँ तत्तद् परमाणुओंसे निर्मित हुई हैं जो प्राकृत वस्तुएँ हैं। इसलिए अभिव्यञ्जनामें इन इन्द्रियोंकी कोई आवश्यकता नहीं। अभिव्यञ्जनाके आरम्भिक तत्त्व तो प्रभाव ही हैं। भले ही इन प्रभावोंने इन्द्रियोंकी माध्यस्थतासे ही मनमें प्रवेश पाया हो, परन्तु अभिव्यञ्जनाका इनसे कुछ भी लेना-देना नहीं है।

क्रोचे इस बातको सर्वथा सत्य मानते हैं कि यदि विशिष्ट परमाणुओंसे बनी हुई कोई विशेष इन्द्रिय न हो तो उसके द्वारा मनमें पहुँचाये जानेवाले प्रभावोंका अभाव हो जायगा। जैसे जो व्यक्ति जन्मान्ध है उसे प्रकाशका स्वयम्प्रकाश्य ज्ञान नहीं हो सकता। फिर ये प्रभाव केवल तत्तद् इन्द्रियोंसे ही उपहित नहीं, उन-उन इन्द्रियोंकी प्रेरक शक्तिसे भी उपहित हैं जिसे हमने न्यायकी प्रक्रियासे क्रोचेकी मानस प्रक्रियाका अन्तर समझाते समय मनकी व्याकरणात्मक शक्ति कहा था। जन्मान्धके दृष्टान्तसे यह सिद्ध हो गया कि स्वयम्प्रकाश्य या अभिव्यञ्जना-व्यापार इन्द्रिय अथवा उसकी प्रेरक शक्तिपर आश्रित नहीं हैं। तात्पर्य यह कि अभिव्यञ्जना प्रभावोंकी पूर्वकल्पना करती है[1]। अतः किसी दी हुई अभिव्यञ्जनाका भाव उन प्रभावोंसे होता है जिनपर वह प्रवृत्त हुई है। इसके अतिरिक्त प्रत्येक प्रभाव अपने प्रभुत्वकालमें अन्य प्रभावोंका व्यवच्छेद कर देता है और इसी प्रकार प्रत्येक अभिव्यञ्जना भी अपने व्यापारके समयमें अन्य अभिव्यञ्जना व्यापारोंका-निषेध कर देती है[2]।

उपर्युक्त अभि[illegible] अखण्ड तथा अविभाज्य होती है। प्रत्येक अभिव्यञ्जना स्वतः पूर्ण होती है तथा इस व्यापारमें अनेक प्रभाव आवयविक ढाँचेमें ढाले जाते हैं। किसी भी वस्तुको अभिव्यञ्जित करनेकी इच्छामें अन्वितिका भाव सदा निहित रहता है। यहाँ

---

1. Expression presupposes impressions.

एस्थे. पृ० ३२

2. Every impression excludes other impressions during the moment in which it dominates, and so does every expression.

Aesthetic.p. 33

अन्वितिका तात्पर्य है भिन्नतामें अभिन्नता। जैसे पुष्पहारके मध्यसे एक ही सूत्र विभिन्न पुष्पोंकी अन्विति बनाये रखता है वैसे ही अनेक प्रभावोंको मानस व्यापार अन्विति किये रखता है। अभिज्ञान शाकुन्तलमें शकुन्तला, अनसूया और प्रियंवदाको सेचन-कार्यमें नियुक्त करते हुए कालिदासने उन्हें वयके अनुरूप घड़ोंसे युक्त किया है। यदि ऐसा न करते तो वहाँ की अन्विति नष्ट हो जाती। अतः योजना अन्वितिरूप है तथा अभिव्यञ्जना है अनेकोंकी एकमें योजना रूप।

ऊपर कही गयी स्थितिके कारण ही क्रोचे किसी कलाकृतिको विभक्त करनेके अत्यन्त विरुद्ध हैं। किसी चित्रको हम मूर्ति, वस्तु, पृष्ठभूमि आदिमें विभक्त करते हैं तथा काव्यकृतिको दस रूपकों, अठारह उपरूपकों, गद्य, पद्य, चम्पू आदि भेदोपभेदोंमें विभाजित करते हैं। क्रोचेका विचार है[1] कि इस प्रकारका विभाजन उस कृतिको उसी प्रकार नष्ट कर देता है जिस प्रकार किसी सजीव अवयवीको अवयवोंमें काट देनेसे वह पञ्चत्वको प्राप्त होता है। परन्तु उन्होंने उन जीवधारियोंपर भी ध्यान दिया है जो कटकर अपने कटे हुए अंशोंसे कई जीवोंको उत्पन्न कर देते हैं। इसीसे उन्होंने कहा है कि यदि कोई कलाकृतियोंका ऐसा विभाग कर सके जिससे उसके विभक्त अंश भी नव-नव विजृम्भणके माध्यमसे नयी-नयी अभिव्यञ्जनाओंके रूपमें प्रादुर्भूत हो सकें, तो इसका

1. But such division annihilates the work, as dividing the organism into heart, drain, nerves, muscles and so on, turns the living being into a corpse. It is true that there exist organisms in which the division gives place to more living things, but in such a case, and if we transfer the analogy to the aesthetic fact, we must conclude for a multiplicity of germs of life, that is to say, for a speedy re-elaboration of the single parts into new single expressions.

Aesthetic. P. 33–34

हमें प्रमाण मिलना चाहिये । क्रोचेकी समीक्षाके इस अंशको हम भी स्वीकार करते हैं । भारतीय काव्यकृतिके जिन विभागोंका हमने ऊपर उल्लेख किया है वे तथा किसी भी रचनाकी समीक्षाके आधार–रस, रीति, गुण, अलङ्कार आदि हमें काव्यकलाके प्रत्येक अङ्गको परिपुष्ट करते हुए ही दिखाई देते हैं, नष्ट करते हुए नहीं । यदि कहीं इनकी ऐसी क्रिया हुई होती तो अबसे सैकड़ों वर्ष पूर्व भारतवर्षसे काव्य उठ गया होता ।

वक्रोक्तिजीवितकारने भी क्रोचेके विचारोंसे मिलती हुई ही यह बात कही है कि "अलङ्कार्यको पृथक् करके हम विवेचना कर रहे हैं । इसका प्रयोजन यही है कि काव्यमें लोगोंकी व्युत्पत्ति हो अन्यथा काव्य तो अलङ्कारादि अवयव-सम्पन्न अवयवी ही है" । जिस प्रकार शब्द-साधुत्व-ज्ञानप्रयोजक व्याकरणमें समुदायके अन्तर्गत आनेवाले असत्य पदार्थोंका भी व्युत्पत्यर्थ अपोद्धारपूर्वक विवेचन किया जाता है तथा जैसे पद समुदायके प्रकृति-प्रत्यय असत्यभूत हैं एवं वाक्यान्तभू‍र्त पद असत्य हैं, फिर भी जैसे ज्ञान करानेके लिए उनका अलग-अलग विवेचन किया जाता है उसी प्रकार हमने अलङ्कार और अलङ्कार्यका पार्थक्य करके विवेचन किया है[1] ।

शुक्लजीके इस कथनका कि "अलङ्कार और अलङ्काकार्यका भेद मिट नहीं सकता—" तात्पर्य अभिन्नतामें भिन्नताकी स्थापना माननेसे ही सङ्गत हो सकता है[2] । कुन्तकने इनका भेद व्युत्पत्तिनिमित्तक माना है, वास्तविक नहीं ।

---

१. अलङ्कृतिरलङ्कार्यमपोद्धृत्य विवेच्यते ।
तदुपायतया तत्त्वं सालङ्कारस्य काव्यता ॥
.........दृश्यते च समुदायान्तःपातिनामसत्यभूतानामपि व्युत्पत्ति-निमित्तमपोद्धृत्य विवेचनम् । यथा पदान्तभू‍र्तयोः प्रकृतिप्रत्ययोर्वाक्यान्तभू‍र्तानां पदानां चेति ।

वक्रोक्तिजीवित १, ६ । पृष्ठ ६

२. अन्यथा यदि हम उसका वह अर्थ लें जिसे पं० नन्ददुलारे वाजपेयीने प्रो. जगन्नाथ प्रसाद मिश्रकी पुस्तक 'साहित्यकी वर्तमान धारा'की भूमिकामें लिखा है—"रस और अलङ्कार भावपक्ष और शैलीपक्षका पृथक्करण और आत्यन्तिक विच्छेद शुक्लजीका दूसरा

शब्द-अर्थ, जल-वीचि, प्रकृति-प्रत्यय आदि अयुतसिद्ध सम्बन्धियोंमें इस अपोद्धारका प्रयोजन केवल कहने-सुनने, समझने-समझानेके लिए है। किन्तु इनसे समुदायरूपमें ही जिस प्रकार व्यवहार चलता है उसी प्रकार कविकर्मजन्य प्रयोजनकी सिद्धि सभी अवयवोंकी पूर्णतामें ही होती है।

क्रोचेके अनुसार कला परीवाहक भी है। मनुष्य अपने प्रभावोंका विजृम्भण कर देनेके पश्चात् उनसे अपनेको स्वतन्त्र कर लेता है। चेतनामें उन्हें प्रतिफलित करके व्यक्ति उनसे छुटकारा पा जाता है तथा कलासे उसका जन्य-जनकभाव सम्बन्ध होनेके कारण उन कृतियोंसे वह श्रेष्ठ भी ठहरता है। कलाका यह पवित्रीकरण तथा मुक्ति-प्रतिपादन-कार्य मानस व्यापारकी दूसरी विशेषता है। अतः यह व्यापार परीवाहक है, क्योंकि वह भावात्मक निष्क्रियताको हटाता है[1]। इससे स्पष्ट है कि कलाकार अत्यधिक भावुक या वासना-सम्पन्न तथा साथ ही अभावुक या गम्भीर क्यों कहा जाता है। क्रोचेके अनुसार प्रथम विशेषण कलाकारकी मानस द्रव्यात्मकताका सूचन करते हैं और दूसरे रूप या साँचेका उपस्थापन करते हैं जिनसे वह अपने उद्रिक्त भावों एवं वासनाओंको अधीन तथा शासित करता है।

तृतीय खंड समाप्त

साहित्यिक सिद्धान्त है···न तो भारतीय साहित्याचार्य और न क्रोचे जैसे नवीन सिद्धान्त-संस्थापक वस्तु और शैलीमें इस प्रकारका कोई भेद मानते हैं"—तो स्वीकार करना पड़ेगा कि वाजपेयीजीका कथन युक्ति-युक्त है। पर वस्तुतः ऐसी बात नहीं है। शुक्लजी इन विषय-विभागोंको "काव्यसमीक्षा"के लिए ही अत्यन्त उपयोगी मानते हैं।

1. Activity is the deliverer, just because it drives away passivity.

Aesthetic P. 35.

उपसंहार

इस प्रबन्धके क्रमकी व्यवस्था देते हुए शुक्लजीके जिस वाक्यका उद्धरण दिया गया है उसकी समीक्षा सम्भवतः इस ग्रन्थसे हो गयी होगी। वक्रोक्ति-वाद भारतीय साहित्यिक परम्पराका वह चामत्कारिक सिद्धान्त है जिसमें कर्ता या कृतिपर विशेष दृष्टि रखकर काव्यके समस्त उपादानोंका समुचित विवेचन किया गया है। अभिव्यञ्जनावाद यूरोपीय सौन्दर्यशास्त्रका महत्त्वपूर्ण किन्तु कलात्मक पक्ष है। इसने प्राचीन धारणामें नवीन दार्शनिक,पर अस-ङ्गत[1] पीठिका दी। अभिव्यञ्जनावादके सम्बन्धमें सबसे पहिले यह ज्ञातव्य है कि क्रोचेने कलाकी धारणाको उलट दिया जो कभी भी उचित नहीं कहा जा सकता। कारण यह है कि धारणा या अनुभूतिके विषयमें सहृदय प्रमाण होते हैं। उस अनुभूतिके विरुद्ध तार्किक सङ्गति लगाना अप्रामाणिक है। यही कारण है कि प्रतिक्षण प्रतीत होनेवाली अपनी सत्ताको लेकर स्वामी शङ्कराचार्यने क्षणिकवादी बौद्धोंको उखाड़ फेंका। शून्यवादियों और विज्ञान-वादियोंकी तर्कशक्ति अद्भुत थी, पर अनुभवविरुद्ध होनेके कारण ग्राह्य न हो सकी। इसी प्रकार क्रोचेने कलाको वस्तुजगत्से हटाकर जो सर्वथा मानस व्यापारमें पर्यवसित किया वह कहाँ तक सङ्गत है, इसे विद्वान् ही विचार करें। यदि क्रोचे प्रथम मानस व्यापारका ही मुख्य रूप बाह्य अभिव्यञ्जना-को मानते तब भी उसपर कुछ ध्यान किया जा सकता था। परन्तु वे उसे गौण कहते हैं। इसका कारण यह है कि वे सर्वथा व्यक्तिवादी हैं। अतः उनके सिद्धान्तकी स्वीकृति साहित्यिक क्षेत्रमें इस रूपमें नहीं हो सकती। कुन्तक भी व्यक्तिवादी हैं, पर उनका व्यक्तिवाद सामाजिकोन्मुख है।

आधुनिक हिन्दी साहित्यको वक्रोक्तिवाद तथा अभिव्यञ्जनावादकी छायामें किस प्रकार देखा जा सकता है, इसका संक्षिप्त विवरण देना असङ्गत न होगा

---

१. द्रष्टव्य—'मानस दर्शन' परिशिष्ट—क्रमसंख्या १

केवल सङ्केतमात्र किया जाता है। स्व. श्री जयशङ्करप्रसादने छायावादकी विवेचनाका यह निष्कर्ष दिया है कि "ध्वन्यात्मकता, लाक्षणिकता, सौन्दर्यमय प्रतीक-विधान तथा उपचारवक्रताके साथ स्वानुभूतिकी विवृति छायावादकी विशेषताएँ हैं[१]।" आचार्य शुक्लका मत है कि "छायावादकी कवितापर कल्पनावाद, कलावाद, अभिव्यञ्जना आदिका भी प्रभाव ज्ञात या अज्ञात रूपमें पड़ता रहा है[२]।" हमारा विचार है कि छायावादपर शुक्लजीकी सम्मतिका आरोप करनेकी अपेक्षा प्रसादजीकी धारणा अधिक मान्य एवं श्रेयस्कर है। कारण यह कि काव्यमें क्रोचेका अभिव्यञ्जनावाद अपने शुद्ध रूपमें आ ही नहीं सकता। कलावादका ऐकान्तिक प्रभाव 'प्रसाद', 'पन्त' और 'निराला'में ढूँढ़ना व्यर्थ है। यही बात कल्पनावादके विषयमें भी कही जा सकती है। अतः ग्राह्य रूपमें प्रसादजीकी समीक्षा आती है। विचार करनेपर उन्होंने जो कुछ कहा है वह वक्रोक्तिकी पूर्णतामें सरलतापूर्वक गृहीत हो सकता है। उनकी विवेचनपदावली भी वक्रोक्तिवादका स्मरण दिलाती है। साथ ही छायावादके कलात्मक पक्षमें जिन तीन अलङ्कारों—सजीवारोपण या मूर्तिविधान, विशेषण-विपर्यय तथा नाद-सौन्दर्यकी विशेष प्रवृत्ति पायी जाती है और जिन्हें पाश्चात्य या बँगला साहित्यके माध्यमसे आया हुआ माना जाता है वे सबके सब संस्कृतके साहित्यग्रन्थोंमें प्रयुक्त तथा शास्त्रीय ग्रन्थोंमें विवेचित हो चुके हैं।

सजीवारोपणके विषयमें आनन्दवर्धनका कहना है कि "कवि काव्यमें स्वतन्त्र रूपसे अचेतन पदार्थोंका चेतनके समान और चेतन पदार्थोंका अचेतनके समान व्यवहार करा सकता है[३]।" प्रसादजी इस अलङ्कारके रस-सिद्ध

---

१. द्रष्टव्य—'काव्यकला तथा अन्य निबन्ध' पृ. सं. ९२

२. द्रष्टव्य 'हिन्दी साहित्यका इतिहास' पृ. सं. ५८८.

३. भावानचेतनानपि चेतनवच्चेतनानचेतनवत् ।
व्यवहारयति यथेष्टं सुकविः काव्ये स्वतन्त्रतया ॥

ध्वन्यालोक पृ. सं. ४९८

प्रयोक्ता हैं। परन्तु इससे यह न समझना चाहिये कि चिन्ता आदि मनोविकारोंका जैसा स्वरूप उन्होंने कामायनीमें उद्घाटित किया है वैसा संस्कृत साहित्यमें नहीं मिलता। उदाहरणके लिए श्रीहर्षके इस "क्रोध"के वर्णनको लीजिये—

> यत्किञ्चित्पन्नानुत्कम्पमुत्थ दुकमथ दशान् ।
> बुबुधुर्विबुधाः क्रोधमाक्रोशाक्रोशघोषणाम्[1] ॥

देवताओंने स्मरका दर्शन करनेके अनन्तर यत्किञ्चित् लोष्टपाषाणादिको दूसरोंपर फेंकते हुए अत्यधिक सर्वाङ्गकम्पी, दूसरोंसे वारण किये जानेपर भी बार-बार लट्ठमलट्ठा करनेके लिए उद्यत, रक्तवर्णवाले तथा आवेशके कारण दूसरोंके लिए निन्दाविषयक परुष वर्णोंका उच्चारण करते हुए किसीको देखकर अनुमान किया कि ये महाशय—"क्रोध" हैं। इसी प्रकारका मानवीकरण "प्रबोधचन्द्रोदय" आदिमें भी मिलता है।

विशेषण-विपर्ययके द्वारा जो चमत्कार उत्पन्न होता है उसका विचार यहाँके साहित्यशास्त्रियोंने लक्षणाके प्रसङ्गमें बड़े विस्तारके साथ किया है। इसीसे आधुनिक आलोचकोंने इस अलङ्कारको लाक्षणिक वैचित्र्य आदि शब्दोंसे अभिहित किया है। पण्डित सुमित्रानन्दन पन्त इस अलङ्कारके अच्छे वैकटिक माने जाते हैं। उनकी कविताओंके विश्लेषणसे कुछ प्रयोग "साभिप्रायत्व" या "विशेषणवक्रता"के अन्तर्गत आते हैं और शेषका अन्तर्भाव शुद्ध लक्षणाके क्षेत्रमें किया जाता है। लक्षणापर भी कहीं-कहीं लक्षणाका विधान दिखाई पड़ता है जो दण्डीके 'रूपकरूपक'से मिलता है। यह प्रवृत्ति अशास्त्रीय एवं असङ्गत है। शास्त्रकारोंने ऐसे प्रयोगोंको "नेयार्थत्व" दोषके अन्तर्गत गिनाया है। वस्तुतः संस्कृतकी साहित्यिक परम्परा व्यञ्जनाके स्थान-पर "अभिध [illegible]" अधिक प्रयोग उचित नहीं मानती।

भारतीय शास्त्रोंमें "आनोमोटेपोइया"के ढङ्गपर नाद-सौन्दर्यका विवेचन तो नहीं मिलता, किन्तु साहित्यमें ऐसे बहुतसे उदाहरण मिलते हैं। कुन्तककी प्रस्तुतौचित्यशोभिनी वर्णविन्यासवक्रतामें इसका समाहार सरलतासे किया जा सकता है। उत्तररामचरितका यह दृष्टान्त लीजिये—

---

१. नैषधीयचरित १७,१९

बृहदारण्यक उपनिषद्में कुछ इस प्रकारकी चर्चा चली है—"वह आदित्य किसमें प्रतिष्ठित है ? दोनों नेत्रोंमें। नेत्र किसमें प्रतिष्ठित हैं ? रूपोंमें। मनुष्य आँखोंसे ही रूपोंको देखता है। रूपोंकी अवस्थिति कहाँ है ? हृदयमें। हृदय द्वारा ही रूपोंका ज्ञान होता है। हृदयमें ही रूप प्रतिष्ठित है[1]।" इस प्रसङ्गमें आये हुए हृदयसे क्रोचेके मनकी समानता पायी जा सकती है। परन्तु वस्तु-स्थिति ऐसी है नहीं, क्योंकि उपनिषद् अध्यात्म-विषय-परतन्त्र हैं जिससे उनकी धारणा तर्कबुद्धिसे परे है[2]। तथा परमार्थसे व्यवहारका प्रकृष्ट अन्तर जिन्हें मान्य न हो उन्हें वेदान्तसे टक्कर लेनी चाहिये। साथ ही यह भी ध्यान-में रखना चाहिये कि क्रोचे बुद्धिसे परे किसी लोकातिक्रान्त या विश्वातीत तत्त्व-को स्वीकार नहीं करते। अतः यह सिद्ध हो गया कि क्रोचेका मन सांचेवाला है तथा द्रव्य स्वरूपहीन होते हैं, इसका समर्थन अन्य दर्शन नहीं करते।

क्रोचेके अनुसार उपर्युक्त द्रव्योंकी ज्ञप्तिके लिए कल्पना करनी होगी कि मन ज्ञाता है तथा द्रव्य ज्ञेय। जब रूपहीन द्रव्य मानव मनके समक्ष उपस्थित होता है तभी मानस व्यापार आरम्भ हो जाता है। इस व्यापारके कारण ही रूपहीन द्रव्य साँचेवाले मनसे तादात्म्य ग्रहण कर रूपवान् बनता है। तत्-पश्चात् उसके सुसम्पूर्ण रूपकी उपलब्धि होती है[3]। उदाहरणार्थ एक ऐसे-दृश्यकी कल्पना कीजिये जिसमें आकाशपटीकी दिशा सूर्यकी रङ्गीन रश्मियोंसे अनुरक्त हो रही है, दूसरी ओर अभ्रखण्डोंके आवरणमें म्लानमुख तारापति

---

१. स आदित्यः कस्मिन् प्रतिष्ठित इति चक्षुषीति कस्मिन्नु चक्षुः प्रतिष्ठितमिति रूपेष्विति चक्षुषा हि रूपाणि पश्यति कस्मिन्नु रूपाणि प्रति-ष्ठितानि हृदय इति होवाच हृदयेन हि रूपाणि जानाति हृदये ह्येव रूपाणि प्रतिष्ठितानि।

बृहदारण्यक उपनिषद्

२. अचिन्त्याः खलु ये भावाः न तांस्तर्केण योजयेत्।
प्रकृतिभ्यः परंयत्तु तदचिन्त्यस्य लक्षणम्॥

3. Matter attacked and conquered by form, gives place to concrete form.

एस्थेटिक्स, पृ० ९

वारुणीके आसङ्गको प्राप्त करनेके लिए विह्वल हो रहे हैं। समस्त दिगन्तरालोंसे नवप्रभावके अभिनन्दनमें खेचर वन्दियोंकी बधाइयाँ मुखरित हो रही हैं और इधर सस्वेदरोमोद्गमा तृणधरी भगवती भागीरथीके कल-कल स्वन्में स्वर मिलाकर अपना सम्पूर्ण वैभव देवताके चरणोंमें बिखेर रही है। समस्त विश्व नवजागरणमें परिणत हो रहा है। अब यदि क्रोचेके अनुसार इस दृश्यकी व्याख्या की जाय तो यह सारा दृश्य मानस व्यापारमें ही पर्यवसित होगा, क्योंकि अपने मूल रूपमें यह दृश्य कलाकारके मानस जगत्के रूपहीन भाव या द्रव्यके रूपमें ही स्थित था, केवल मानस व्यापारके चमत्कारसे ही इस रूपमें अभिव्यञ्जित हुआ—अपने सुसम्पूर्ण रूपत्वको प्राप्त हुआ। इस सुसम्पूर्ण रूपको हम जगत्में सत्तात्मक रूप कहते हैं। अतः मानस व्यापारके लिए द्रव्यकी नितान्त आवश्यकता है। परन्तु मन ही अपने व्यापारोंकी शक्तिसे उस वस्तुको उपस्थिति करता है जिसे हम सत्ता शब्दसे अभिहित करते हैं[1]। क्रोचे की इस सत्तासे मिलने-जुलनेवाली सत्ताकी कल्पना भारतीय दर्शन शृङ्खलाके विज्ञानवादियोंने की थी। लगे हाथों उससे भी इसका पार्थक्य देख लेना चाहिये।

विज्ञानवाद एक मेव 'आलयविज्ञान'की सत्ता स्वीकार करता है। यही सत्ता ग्राह्य विषय तथा ग्राहक विषयी इन द्विविध रूपोंमें प्रतिभासित होती है[2]। विषय-पक्षमें आलयविज्ञानके घटपटादिक असङ्ख्यों अध्यस्त रूप होते हैं, पर विषयी पक्षमें यह चेतनसे सम्बद्ध होनेपर 'चित्त', मनन करनेके कारण 'मन' तथा विषयग्रहीता होनेके कारण विज्ञान कहलाता है[3]। यह प्रत्येक व्यक्तिमें

---

1. Without matter, however, our spiritual activity would not have its abstractions to become concrete.
वही, पृ० ९

२. चित्तमात्रं नु दृश्योऽस्ति द्विधा चित्तं हि दृश्यते।
ग्राह्यग्राहकभावेन शाश्वतोच्छेदकारणम्॥
लङ्कावतार ३,६५

३. चित्तमालयविज्ञानं मनो यन्मननात्मकम्।
गृह्णाति विषयान् येन विज्ञानं हि तदुच्यते॥

पृथक् पृथक् रहकर भी समष्टि चेतनका प्रतीक है। नित्य परिणामी होते हुए भी इसकी क्रियासन्तति कभी विच्छिन्न नहीं होती। सृष्टिका आरम्भ ही इसकी क्रियाका प्रारम्भ था तथा सृष्टिका अन्त ही इसकी क्रियाका विराम होगा। प्रतिभान या प्रतिभासित होनेवाली वस्तुओंकी भिन्नता एवं बहुलताके कारण यह भिन्न अथवा बहुत भले ही प्रतीत हो, पर उसमें किसी प्रकारका भेद कभी उत्पन्न नहीं होता[1]। अतः विज्ञानवादियोंका यह परिनिष्ठित मत है कि यह संसार मनका खेल है, केवल चित्त या विज्ञान ही वास्तविक सत्ता है। वही जगत्के विभिन्न रूपोंमें, कभी देह या उपभोक्ता के रूपमें तथा कभी भोग अथवा उपयोग्यके रूपमें दिखाई पड़ता है।

दृश्यते न विद्यते बाह्यं चित्तं चित्रं हि दृश्यते।
देहभोगप्रतिष्ठानं चित्तमात्रं वदाम्यहम्॥

क्रोचे विज्ञानद्वैतियोंकी भाँति समस्त विश्वके विसर्गकी शक्ति मनमें नहीं मानते। उनका जीवस्वरूप, गतिशील और साँचेवाला मन निर्जीव, निष्क्रिय तथा रूपहीन द्रव्यके साक्षात्कार करनेपर ही व्यापारवान् होता है, अन्यथा नहीं, एवं मानस व्यापारके फलस्वरूप ही हमें रूपवान् या सत्तात्मक द्रव्योंकी उपलब्धि होती है। अतः इससे दो निष्कर्ष निकलते हैं—

१. पहला निष्कर्ष तो यह है कि मन और द्रव्य अपनी मूल अवस्थामें परस्पर भिन्न गुण-धर्मोंसे युक्त दो स्वतंत्र पदार्थ हैं। पर क्रोचे स्पष्ट कहते हैं कि केवल चेतन अथवा मन ही सत्तात्मक तत्त्व है। उनके व्याख्याकार तथा समर्थक विल्डन कार भी इसका मण्डन करते हैं[2]। अतएव उक्त निष्कर्ष तथा क्रोचेके सिद्धान्तमें विरोध दिखाई पड़ेगा। किन्तु यह आभास मात्र है। विचार-भेदपर दृष्टि रखनेसे परिहृत हो जायगा। क्रोचेकी कल्पना है कि मनमें सुस-

---

१. बुद्धिस्वरूपमेकं हि वस्त्वस्ति परमार्थतः।
प्रतिभानस्य नानात्वान्न चैकत्वं विहन्यते॥

सर्वसिद्धान्तसङ्ग्रह, ४,१,६

2. There is but one reality.

फिलासफी ऑव क्रोचे पृ० ५

म्पूर्णता तथा द्रव्यमें भावात्मकता रहती है, सुसम्पूर्ण सत् है एवं भावात्मक असत्, जैसा कि उनके नामोंसे ही स्पष्ट है। परन्तु यदि हम इस कल्पनाको थोड़ी देरके लिए हटाकर 'द्रव्यकी उपस्थिति होनेपर ही मानस व्यापार प्रारम्भ होता है', इस उक्तिपर विचार करें तब निश्चित रूपसे हमें द्वैतसत्ता स्वीकार करनी पड़ती है। हमारे इस पक्षका समर्थन भी कारके इन शब्दोंसे हो जाता है कि क्रोचे इस निष्क्रिय तत्त्व द्रव्यको औपधिक विचारके रूपमें स्वीकार करते हैं, परन्तु निश्चित रूपसे उसकी कोई सुसम्पूर्ण सत्ता नहीं मानते[1]। कारके इस कथनसे सन्देह उत्पन्न होता है कि क्या क्रोचे मानस द्रव्य तथा भौतिक द्रव्य–इन दोनोंमें कहीं भी सुसम्पूर्णता नहीं मानते ? यदि ऐसी बात मान भी ली जाय तो क्रोचेके इस वाक्यसे विरोध घटित होता है कि द्रव्य अपनी भावात्मकतामें यन्त्ररूपता है, निष्क्रियता है[2], क्योंकि जब द्रव्यकी भावात्मकता है तो वह सुसम्पूर्णताकी ही होती। ऐसा तो हो नहीं सकता कि भौतिक द्रव्य भी भावात्मक हो और मानस द्रव्य उसकी भावात्मकता हो। स्वयं क्रोचेने जिस प्रकार स्वयम्प्रकाश्योंके स्वयम्प्रकाश्यका, विचारोंके विचारका खण्डन किया है उसी प्रकार भावात्मकताकी भावात्मकता भी खण्डित है। अतः भौतिक जगत्की सुसम्पूर्णता मानते ही क्रोचेको दो सत्ताएँ स्वीकार करनी पड़ेंगी। अब यदि कहा जाय कि मानस दर्शनमें भौतिक द्रव्योंका पचड़ा क्यों लाया जा रहा है, तो इसका उत्तर है—द्रव्यको ठीक-ठीक समझनेके लिए। क्रोचे एक स्थानपर कहते हैं कि द्रव्य वह भावात्मकता है जो सौन्दर्यात्मक ढङ्गसे मानस व्यापारसे विजृम्भित न की

---

1. He admits it (passive element) as a limiting concept but denies to it any positive, any concrete reality.

वही पृ० ११

2. Matter in its abstraction is mechanism, passivity.

एस्थेटिक पृ० ९

गयी हो[1]। यहाँ फिर प्रश्न होता है कि ये द्रव्य रूपवान् हैं या अरूप? क्रोचे महाशय उन्हें अरूप मानते हैं, यह आरम्भमें ही कहा जा चुका है। किन्तु तनिक भी ध्यान देनेपर विदित हो जायगा कि द्रव्य रूपवान् ही होते हैं। यह पहले सिद्ध किया जा चुका है कि क्रोचेको भौतिक जगत्की सुसम्पूर्णता माननी ही पड़ेगी, क्योंकि तभी उस जगत्की छापें मानस भावात्मकताके रूपमें सङ्गृहीत होती रहेंगी और तभी सब मनुष्योंमें उनकी एकरूपता रहेगी। कहा जा सकता है कि एकरूपताकी बातें कहाँसे आ गयीं? उत्तर है—क्रोचेके प्रस्तुत वाक्यसे 'काव्यात्मक वस्तु सभीकी चेतनामें अनुस्यूत रहती है। केवल अभिव्यञ्जना या रूप ही कवि उत्पन्न करता है'[2]। ये ही भावात्मक छापें किसीकी चैतन्य प्रक्रियाका विषय होकर अभिव्यञ्जित होती हैं तथा कलाएँ कहलाती हैं एवं उस व्यक्तिको कलाकारकी पदवीसे विभूषित करती हैं। अब प्रकृत प्रसङ्गपर आइये। इन मानस भावात्मक छापों तथा भौतिक वस्तुओंका क्या सम्बन्ध है? बिम्बप्रतिबिम्बभाव ही न। फिर इन भावात्मक छापों–मानस द्रव्योंको अरूप कैसे कहा जा सकता है? उदाहरणके लिए सूर्योदयका दृश्य लीजिये। इसका अन्तःसंस्कार, प्रभाव, छाप सभीके मनमें है। जब पूर्वोदाहृत अभिव्यञ्जना अथवा अन्य कोई अभिव्यञ्जना कलाकार प्रस्तुत करता है तब भावुकके वे ही प्रभाव प्रबुद्ध हो जाते हैं। इसी चमत्कारसे सहृदयका मन नाच उठता है। सूर्योदयका जो प्रभाव मनमें पड़ा था उसका कोई न कोई रूप अवश्य था। यदि उसको हम रूपहीन कहें तो आनन्दविमुग्ध होकर कही गयी उस उक्तिका कि कविने स्वाभाविक चित्रण प्रस्तुत किया है, कोई अर्थ न रह जायगा। इसी उदाहरणमें नहीं, प्रत्युत संस्कृतसाहित्यकी किसी भी

---

1. Matter is the emotivity not aesthetically elaborated.　　वही, पृ० २५
2. Poetical material permeats the soul of all; the expression alone that is to say the form makes the poet.

वही पृ० ४२

मार्मिक स्वभावोक्तिके परीक्षणमें इसी निष्कर्षपर पहुँचना होगा कि कविने जो रूप उपस्थित किया है वह हमारे हृदयमें स्थित मूर्तिसे मिलता-जुलता है। अतः भौतिक जगत्की पड़ी हुई मानस भावात्मकता निश्चित रूपसे रूपिणी होती है। यह अवश्य है कि सहृदयनिष्ठ रत्यादिक भावोंका कोई मूर्त रूप नहीं होता, पर उनके भी आलम्बन मूर्त ही होते हैं। इसीसे निराकार भी भावोंसे सम्बद्ध होनेपर साकार हो उठता है। सम्भव है कि कुछ लोग उसे विराट् रूपमें लें, पर साकार तो वह होता ही है। उन भावोंको उद्रिक्तावस्थामें लानेके लिए विभावादिकोंकी मनोरम सङ्घटनाका श्रेय कविको ही है। इस दृष्टिसे कविके कर्म, काव्यमें अभिव्यञ्जनाकी मुख्यता प्रमाणित होती है, किन्तु सहृदयपक्षसे देखनेपर अभिव्यङ्ग्य विशेषतः भाव, स्थायी भाव अथवा रसकी प्रधानता ठहरती है। अस्तु, उक्त निष्कर्षके प्रसङ्गमें इस विवेचनका प्रयोजन यह है कि न तो क्रोचेने और न उनके समर्थकोंने ही प्रतिक्षण अनुभूत होनेवाली द्रव्यकी इस स्थितिका विचार किया। पर यह अनुभवसिद्ध पक्ष है। कमसे कम हमारी यही धारणा है।

२. दूसरा निष्कर्ष यह है कि किसी प्रकार द्रव्य और मनका सन्निधान घटित होनेपर द्रव्यके रूपकी उपस्थितिमें मनकी कारणता है। इसमें विज्ञानवादसे सूक्ष्म अन्तर यह दिखाई पड़ता है कि विज्ञानवाद चित्तके अतिरिक्त किसीकी सत्ता मानता ही नहीं, पर क्रोचेका सिद्धान्त द्रव्यको मनसे भिन्न मानकर भी उसकी रूपोपलब्धिमें मनका हाथ बताता है। विज्ञानके प्रतीकत्व और क्रिया अविच्छिन्नत्वसे क्रोचेके मनकी सङ्गति हो सकती है, परन्तु जहाँ विज्ञानवाद नानार्थको अध्यस्त मानकर अपना काम कुछ दूरतक चला लेता है वहाँ क्रोचेका वाद तत्त्वदृष्टिसे उतनी दूरतक भी साथ नहीं दे पाता। कहनेके लिए तो क्रोचे भी कहते हैं कि साँचा मन सदा एकरस रहता है, केवल द्रव्योंकी विभिन्नताके कारण ही ज्ञानके आकार परिवर्तित हुआ करते हैं[1]। परन्तु यहाँ प्रश्न

---

1. It is the matter, the content that differenciates one of the intuitions from another, form

उपस्थित होता है कि द्रव्योंकी विभिन्नताका कारण क्या है? या तो वे स्वतः अनेक तथा परस्पर भिन्न गुण-धर्मोंवाले होते हैं अथवा एक होते हुए भी किसी अन्य कारणसे उसमें अनेकत्व तथा विभिन्न गुण-धर्मत्व उत्पन्न हो जाते हैं। पहला पक्ष इसलिए सम्भव नहीं है कि वैसा माननेसे निर्जीवत्व, निष्क्रियत्व एवं अरूपत्व, ये सामान्य धर्म कहे ही नहीं जा सकते थे। जैसे वृक्षत्व, घटत्व आदि धर्मवाले वृक्ष, घट आदिका कोई समान्य धर्म नहीं बतलाया जा सकता,—हाँ, श्लेषादि चामत्कारिक पद्धतियोंको छोड़कर। अब यदि हम द्वितीय पक्षसे समाधान करना चाहें तो भी बात नहीं बनती, क्योंकि अन्य कारण केवल साँचा ही ठहरता है जिसमें ढलकर द्रव्य रूपवान् होते हैं, उनका शुद्धत्व विकृत हो जाता है। यदि यह साँचा एक ही है और द्रव्य भी एक ही है तो नानार्थत्वकी उपपत्ति नहीं बैठती। यदि कहें कि साँचा एक ही है, पर द्रव्य अनेक हैं, निर्जीवत्वादि लक्षणरूपसे निर्दिष्ट हैं, तब भी बात नहीं बनती, क्योंकि जब अनेक रूपहीन भी एक ही साँचेमें ढाले जायेंगे तब उनमें नानारूपत्व कैसे सिद्ध होगा? यदि यह कहें कि मनमें साँचे अनेक हैं और द्रव्य एक ही है, पर साँचा-विशेष प्राप्त होनेपर विशिष्ट रूपमें भासित होता है, तब यह कठिनाई उपस्थित होगी कि जो वस्तु हमें एक समयमें कुछ दिखाई दी थी वह दूसरे समय दूसरी दिखाई पड़नी चाहिये थी, पर अनुभव इसके विरुद्ध है। कहा जा सकता है कि शृङ्गारी कवि स्त्रीका ऐसा नख-शिख वर्णन प्रस्तुत करता है जिसमें मन रमता है, पर विरागी कवि उसी स्त्रीका साङ्गोपाङ्ग ऐसा बीभत्स चित्र उपस्थित करता है जिससे मन घृणासे भर जाता है, इसका क्या रहस्य है? उत्तर है कि इसका कारण रूपका परिवर्तन नहीं, अपितु उसी रूपसे विरोधी भावोंका उद्‌बोधन है। अस्तु, अब यदि कहा जाय कि द्रव्य भी अनेक हैं तथा उनके साँचे भीमन में अलग-अलग एवं प्रति-नियत हैं तथा द्रव्य स्वभावानुसार ही अपने-अपने साँचे ग्रहण कर रूप, तदनन्तर

---

is constant, it is spiritual activity, while matter is changeable.

एस्थेटिक, पृ० ९

सुसम्पूर्ण रूपमें, सत्तात्मक रूपमें अभिव्यञ्जित होते हैं तो बात बन सकती है। साँचे को एक तथा दर्पणस्थानीय मानकर भी काम चलाया जा सकता है, पर क्रोचे इसे स्वीकार नहीं करेंगे, और यदि मान भी लें तो भङ्गयन्तरसे उन्हें लोकव्यवहार तथा दार्शनिक परम्परासे एकदेशको, अर्थात् प्रत्येक द्रव्यका अपना व्यवस्थित रूप है इस बातको, स्वीकार करना पड़ेगा जिससे उनके दर्शनका एक पैर टूट जायगा[१]।

विल्डन कारने क्रोचेद्वारा लिखित 'स्वयम्प्रकाश्य ज्ञान और सौन्दर्यात्मिक व्यापार' शीर्षक निम्बन्धका एक अवतरण अपनी पुस्तकमें दिया है जिससे उपर्युक्त विकल्पोंका क्रोचेके पक्षसे एक समाधान प्रस्तुत किया जा सकता है, अतएव उसपर भी विचार कर लेना चाहिये। क्रोचेने स्वयं प्रश्न उठाया है कि सौन्यर्दानुभूतिमें रूप एवं द्रव्यके अन्तरका ज्ञान हमें कैसे होता है? उनका कहना है कि कल्पना कीजिये–अ, ब, स तीन विभिन्न कलाकृतियाँ हैं–तीन भिन्न-भिन्न स्वयम्प्रकाश्य हैं। जहाँतक उनमें स्वयम्प्रकाश्यताकी स्थिति है वहाँ-तक इनमें समानता है और उसे वे रूप या साँचा कहते हैं। इसके अतिरिक्त अ, ब, समें जो भेदक तत्त्व है उसे वे द्रव्य कहते हैं[२]। परन्तु क्रोचेकी

---

१. इस विचारकी पुष्टि संस्कृतके निम्नलिखित श्लोकमें बतायी जा सकती है—

अपारे काव्यसंसारे कविरेकः प्रजापतिः।
यथास्मै रोचते विश्वं तथेदं परिवर्तते॥

पर यहाँ परिवर्तन तात्पर्य रूपपरिवर्तन नहीं, प्रत्युत भाव परिवर्तन ही है जो अगले श्लोक से प्रमाणित होगा—

श्रृङ्गारी चेत्कविः काव्ये जातं रसमयं जगत्।
स एव वीतरागेश्चेन्नीरसं सर्वमेव तत्॥

2. How do we get distinction between matter and form in aesthetics ? I have before me three different works of art, three different intuitions a, b, c. In as much as they are intu-

यह समानता तथा भिन्नता स्पष्ट नहीं होती । वाल्मीकीय रामायण, रामचरितमानस और साकेतमें एक ही कथावस्तु, एक ही द्रव्य अनुस्यूत है परन्तु अभिव्यञ्जना, रूप अथवा सङ्घटना-वैचित्र्यके कारण ही ये तीन कृतियाँ हैं । स्वयं क्रोचे अभिव्यञ्जनाको ही कविका रूप मानते हैं[1] । ऐसी स्थितिमें सभी अभिव्यञ्जनाएँ एक मनुष्यसे दूसरे मनुष्यके समान परस्पर नितान्त भिन्न होंगी और द्रव्य भी तत्तत् कवियोंके भावों एवं विचारोंसे सम्बद्ध होकर अभिव्यञ्जित होनेके कारण कुछ न कुछ भिन्न होंगे ही । फिर अ, ब, समें रूपगत एकता तथा द्रव्यजन्य विभिन्नता कैसे सिद्ध की जा सकती है ? यदि अभिव्यञ्जना-सामान्यके आधारपर यह भेद हटाया जा रहा हो तो ठीक है, पर साथ ही यह प्रश्न भी उठता है कि क्या द्रव्यकी भी स्थिति है ? क्रोचेका उत्तर निषेधात्मक है । वे कहते हैं कि जिसकी स्थिति है वह तो रूप, साँचा या अभिव्यञ्जना है जिसे अ, ब, स—इन तीन स्वयम्प्रकाश्यों अथवा तीन सुसम्पूर्ण रूपोंमें समझा गया है । यह इतना कठोर सत्य है कि यदि उक्त तीन कलाकृतियोंके द्रव्यकी अभियञ्जना क्रोचेको करनी हो तो वे उन द्रव्याहित रूपोंके पुनः-पुनः उच्चारणके अतिरिक्त और कुछ कहना पसन्द नहीं करेंगे[2] । परन्तु

---

itions, they have something in common which I call form; the differential element by which they are distinguished as a, b, c, I call matter.

फिलांसफी आंव क्रोचे पृ० ४८०

1. The poet or painter who lacks forms lacks everything because he lacks himself.

एस्थेटिक पृ० ४२

2. Now does the matter exist ? Obviously not. What exists is the form as a, as b, as c, three intuitions or three concrete forms. So true is this that should I wish to express the matter

क्रोचेका यह पक्ष भी नहीं जमता। हम जानते हैं, कोई भी मनुष्य जन्मसे ही अभिव्यञ्जनाको अभिव्यञ्जनाके रूपमें ग्रहण नहीं कर सकता। यह तो अनुशीलन और अभ्यासके प्रयासका फल है कि कुछ दिनों पश्चात् वह अभिव्यञ्जनाको उसकी पूर्णतामें ग्रहण करने लगता है। अतः ग्रहणमें पूर्ण योग्य बनानेके लिए रूप तथा द्रव्यको पृथक्-पृथक् करके ही समझाना होगा। क्रोचेने इस व्युत्पादनक्रियापर विचार किया है। वे कहते हैं कि वस्तुतः द्रव्यकी स्थिति तो है नहीं, परन्तु वस्तुस्थापन-सौकर्यकी दृष्टिसे उसकी भी स्थिति मान ली जाती है[1]। क्रोचेकी द्रव्य-विषयक यह उक्ति भी अन्य उक्तियोंकी भाँति अरूप होनेके कारण द्रव्यकी स्थिति स्वीकार नहीं करती। यदि यही बात हो तो हम बेखटके कह सकते हैं कि भौतिक द्रव्योंका रूप तो होता ही है, साथ ही साथ प्रतिबिम्ब होनेके कारण मानस द्रव्योंका भी रूप मानना पड़ेगा। किन्तु यदि यह बात न हो तो और भी कोई कारण हो सकता है, इसकी सम्भावना हमें नहीं होती।

इस प्रकार यद्यपि क्रोचेका मूल दर्शन विचारकी कसौटीपर खरा नहीं उतरता, तथापि उसके विशकलित अंशोंको अन्य प्रकारसे भी समझा जा सकता है, जिनमें उलझ जानेसे ही दार्शनिक बुद्धि भ्रान्त हो गयी है।

यह तो सर्वमान्य सिद्धान्त है कि निमित्त (करण तथा कारणों)के निर्णयका आधार उपलक्षित नैमित्तिकोंका विश्लेषण ही होता है। हमारी धारणा यह है कि क्रोचेने अपने सिद्धान्तोंकी उद्भावनाएँ सौन्दर्यानुभूतिको उपलक्षण बनाकर की हैं। कार भी क्रोचेके सुसम्पूर्ण जगत्को उसके व्यावहारिक पक्षमें

---

of these works of art, I cannot do so except by repeating forms of them in which alone the matter exists,

फिलॉसफी ऑव क्रोचे पृ० ७४

1. Matter does not really exist, but is posited fon the convenienoc of exposition.

फिलॉसफी ऑफ क्रोचे पृ० ७५

सौन्दर्याश्रयी तार्किकसत्ताक कहकर उक्त कल्पनाका समर्थन करता हुआ प्रतीत होता है[1]। इस सौन्दर्यानुभूतिकी चरमावस्थामें हम वेद्यान्तरशून्य [2] हो जाते हैं। किन्तु यह भी निश्चित है कि वही सौन्दर्य हमें विगलित-वेद्यान्तर वना सकता है जो हमारी सौन्दर्यवृत्तिसे पूरा पूरा तादात्म्य कर ले। विशिष्ट प्रकार-की रुचिवालोंकी सौन्दर्यानुभूति विशेष प्रकारके आलम्बनोंसे ही जागरित होती है तथा जो आलम्बन किसी एक व्यक्तिको जैसा अनुभूतिमय बनाता है वैसा अन्यको (तद्भिन्न रुचिसम्पन्नको) नहीं। ये दृष्टान्त उक्त कथनके साहचर्यमें यह प्रमाणित करते हैं कि हमारा अहङ्कार तबतक तिरोहित नहीं होता जबतक उसे अपने अतिरिक्त कुछ भी भासित होता रहता है। अपनी ऐकान्तिक स्थिति में जहाँ उसे स्व मात्र प्रतीत होता है, वह अहङ्कार उपशमको प्राप्त होता है। यहाँ यह बात भी मान्य है कि सौन्दर्यका अधिष्ठान बाह्य भले ही हो, पर सौन्दर्यानुभूतिकी वृत्ति, प्रथम मानस वृत्ति, ज्ञानात्मक या भावात्मक होनेके कारण अन्तःकरण में ही रहती है। चैतन्यस्थानीय मनकी वृत्ति होनेके कारण इसे चैतन्यप्रक्रिया भी कहा गया है। यही वृत्ति सौन्दर्यके निधानका सुस्पष्ट उप-स्थापन अर्थात् सकल कलाओंका विधान करती है। परन्तु इस वृत्तिके द्वारा ग्रहण की जानेवाली सौन्दर्यकी जो सापेक्ष धारणाएँ हैं उनसे यह सिद्ध होता है कि सौन्दर्यानुभूतिमें मानस व्यापारका वैलक्षण्य कुछ अधिक है। सुन्दर बाह्यार्थविशिष्ट ही नहीं, आभ्यन्तरविशिष्ट भी है। किन्तु क्रोचेने इस अधिक अथवा विशिष्ट प्रत्ययको सर्वस्व मान लिया। हमारी दृष्टिमें यही भ्रान्ति है। इसीसे उन्होंने द्रव्यको स्वीकार करके भी उसके रूपकी कल्पना मानस व्यापार-के अन्तमें की। कलाकार-उदाहरणार्थ कविमें इस तथ्यकी विवृति इस प्रकार

1. ....Croce's meaning that the concrete world is, on its theoretical side, wholly an aesthetico-logical reality. वही पृ० ९

२. परन्तु यह बात स्मरण रखनेकी है कि अनुभविताके वेद्यान्तरशून्य होनेका कारण उसका अपना भाव है : व्यावहारिकसत्ताक सुन्दर केवल उसे उद्‌बुद्ध मात्र कर देता है।

होगी। प्रायः सभी अपने व्यावहारिक जीवनमें बाल-गोपालकी झाँकी लेते हैं, परन्तु वही झाँकी तुलसीकी मानस वृत्तिका विषय हो इन शब्दोंमें रूपवती हुई,—

भोजन करत बोलावत राजा।
नहिं आवत तजि बाल समाजा॥
कौसल्या जब बोलन जाई।
ठुमुकि ठुमुकि प्रभु चलहिं पराई॥
धूसर धूरि भरे तनु आये।
भूपति बिहँसि गोद बैठायें॥

भोजन करत चपल चित्त, इत उत अवसर पाइ।
भाजि चलै किलकत बदन, दधि ओठन लपटाइ।

सूरने अपने मुद्रित नेत्रोंसे उसी वस्तुका अवस्था-भेदसे इन रूपोंमें साक्षात्कार किया,—

१. सोहत कर नवनीत लिये।
घुटुरुन चलत, रेनु तनु मण्डित, मुख दधि लेप किये॥

२. कत हौ आरि करत मेरे मोहन यों तुम आँगन लोटी।
जोइ माँगहु सोइ देहुँ मनोहर यहै बात तेरी खोटी।
सूरदासको ठाकुर ठाढ़ो हाथ लकुट लिये छोटी॥

वही मूर्ति प्रसादके आत्माकी सङ्कल्पात्मक अनुभूतिमें इस प्रकार अभिव्यञ्जित हुई,—

"माँ" फिर एक किलक दूरागत गूँज उठी कुटिया सूनी।
माँ उठ दौड़ी भरे हृदयमें लेकर उत्कण्ठा दूनी।
छुटरी खुली अलक रजधूसर बाहें आकर लिपट गयी।
निशा तापसीकी जलनेको धधक उठी बुझती धूनी॥

इसी प्रकार अन्य कलाएँ भी स्वरों, रेखाओं आदिमें अपनी अभिव्यञ्जना करती हैं। क्रोचेके अनुसार ये कलाएँ कलाकारतक अपनेको सीमित रखकर भी अपने प्रयोजनमें सफल मानी जाती हैं।

मनि मानिक मुक्ता छबि जैसी।
अहि गिरि गज सिर सोह न तैसी ॥
नृप किरीट तरुनी तनु पाई।
लहहिं सकल सोभा अधिकाई ॥

की उक्ति यहाँ विपरीत हो जाती है। हमारा विचार है कि यह वैपरीत्य भी क्रोचेके पक्षका अच्छा उपस्थापन कर देता है।

उपर्युक्त निर्दिष्ट व्यष्टि-चेतनकी, कलाकारकी अभिव्यञ्जनाओंका यह क्रम समष्टि-चेतनके व्यापारमें भी उपपन्न हो सकता है। जिसके फलस्वरूप हमें जगत् तथा उसकी सम्पूर्ण विभूतियोंका रूप दृष्टिगोचर होता है। परन्तु समष्टि-चेतनाके व्यापारके लिए भी द्रव्यकी आवश्यकता पड़ेगी, भले ही वह क्रोचेके लक्षणोंसे ही युक्त हो। अतः क्रोचे द्वैतसत्तासे अपना पिण्ड नहीं छुड़ा सकते। यदि वे बिना द्रव्यकी सहायताके चेतनका व्यापार चला सकते तभी-मानस दर्शनमें चेतन या मनकी एक सत्ता है, यह कह सकते थे।

व्यष्टि-चेतन तथा समष्टि-चेतनमें जिस एकरूपताकी उपपत्ति उपर्युक्त प्रघट्टकमें दी गयी है उसका अनुधावन 'इतिहासका विचार' शीर्षक निबन्धमें मन-को इतिहाससे सम्बद्ध करके विल्डन कारने भी किया है[1]। क्रोचेकी दृष्टिसे इतिहास क्या है? यह प्रश्न प्रसङ्गानुकूल होते हुए भी विशेष विस्तारकी अपेक्षा रखनेके कारण सम्प्रति त्याज्य है। परन्तु कारने चैतन्य समुद्रमें बहुत से व्यक्तियोंके स्थिति-प्रकारकी जो कल्पना की है वह अवश्य विचारणीय है। उनका विकल्प है कि समष्टि-चेतनमें व्यक्तियोंकी स्थिति या तो जलतरङ्गवत् है अथवा आन्तर-विकास-सिद्धान्तपर नित्य वर्धमान, बाह्य प्रभाव तथा प्रेरणासे सर्वथा निरपेक्ष आयद्वीपोंके समान है[2]। क्रोचेने स्वतः इस प्रश्नपर

---

1. ......what is true of individual is also true for the universal, which is history.

फिलांसफी आंव क्रोचे पृ० १९७

2. What is the nature of plurality of individuals? Are individuals eddies in the ocean of unive-

विचार नहीं किया था, इसीसे कारने कल्पना की कि सौन्दर्य-सिद्धान्तके आधार-पर समष्टिमें व्यक्तियोंकी स्थिति 'बारि बीचि जिमि गावहिं वेदा'की न होकर प्रायद्वीपोंके समान है। परन्तु यहाँ यह विवाद उठ सकता है कि जिस ऐतिहासिक एकरूपतापर समष्टि एवं व्यष्टिकी एकरूपता या अभेदका प्रतिपादन किया गया है उसीके आधारपर व्यक्तियोंमें भी एकरूपता स्वतः सिद्ध है। कारने इस प्रश्नका प्रत्याख्यान यह कहकर किया है कि जिस इतिहासने व्यष्टि मनको जन्म दिया है तथा जो उसके स्वभावका निर्माता एवं उसकी स्थितिके रूपका नियामक है उसीने कुछ सामान्य स्वभाव भी उत्पन्न किया है, जैसे हम लोगोंका मानव-स्वभाव[1]। यह युक्ति क्रोचेकी उस उक्तिसे बधित है जिसके द्वारा उन्होंने काव्यमें 'टाइप'का खण्डन किया है। फिर यदि हम कारके 'सामान्य स्वभाव'को स्वीकार कर लें तो सरलतासे यह भी कह सकते हैं सौन्दर्यकी भी—प्राकृतिक या स्वाध्यगत ही सही—इससे व्यापक धारणा उस मनने उत्पन्न की है। परन्तु क्रोचे सामान्य को इस व्यापारमें स्वीकार ही नहीं करेंगे—वह तो तर्क अथवा प्रमाका विषय है। अतः कारका यह समर्थन भी जमा नहीं। क्रोचे एकतत्त्ववादी हैं अथवा द्वैततत्त्ववादी, इसपर कारने अच्छा विचार किया है तथा अन्तमें वे इस निष्कर्ष पर

---

rsal mind ?. Or are they monads, each developing in its indivdual nature on an internal principle of evolution, each secured by that nature against intrusion of effective influence without.

वहीं, पृ० १९

1. The History which has produced the individual mind, which constitutes it nature and determines the form of its exisence has also producd the common nature or as we say of ourselves, the human nature. वही,

पहुँचे हैं कि अन्तिम अर्थात् पूर्ण दार्शिनक योजना प्रस्तुत करनेका दावा क्रोचेका नहीं, प्रत्युत एक ऐसे दर्शनकी योजना है जो उसे द्वैततत्त्व-कल्पनासे मुक्त दिलानेवाली है[1]। इस विषयपर पर्याप्त विचार हो चुका है, इसलिए प्रसङ्गवश इतना ही कहना अपेक्षित है कि द्रविड़ प्राणायाम से किसी वस्तुका यदि उपस्थापन किया जाय तो उससे किसी नवीन प्रमेयकी सिद्धि नहीं हो सकती।

क्रोचेके चेतन या मन तत्त्वके विषयमें यह भी ज्ञातव्य है कि वे उसे व्यापाररूप मानते हैं। विल्डन कारने इस विषयमें लिखा है कि यह मानस-रूप सत्यता या सत्तारूप मन एक व्यापार है जिसके रूपोंमें भेद तथा उनमें क्रम एवं सम्बन्धकी व्यवस्था तो की जा सकती हैं, पर उन्हें पृथक् नहीं किया जा सकता, क्योंकि वे परस्पर अभेद्य आवयविक एकताके आश्रय तथा अन्त-राश्रय पर स्थित हैं[2]। यहाँ यह प्रश्न उठता है कि जब एक ही सत्ता तथा व्यापार रूप है तब फिर व्यापारयिता कौन है? क्योंकि कोई भी व्यापार बिना नियामकके नहीं हो सकता। क्रोचे तथा उनके समर्थकोंने इसका उप-

---

1. Croce's claim is not to have presented a final system of philosophy but to have presented a view of philosophy which finally delivers it from the reproach of a dualistic hypothesis.

वही पृ० २०९

2. This mind which is reality or reality which is mind is an activity the forms of which we may distinguitsh and also we may distinguish the order and relation ot the forms; but we cannot separate them, for they are in an indissoluble organic union of dependence and interdependence on one another.

फिलासफी आफ क्रोचे पृ० ५४

न्यास कहीं नहीं किया, अतः क्रोचेकी चेतन-विषयक धारणा भी तर्कके परिपुष्ट आधारपर नहीं टिकी है। साँचे (मन) को नित्य एकरस तथा द्रव्यको परिणामी बताते हुए भी उनके हाथ अर्धसत्य ही लगा। ऐसा प्रतीत होता है कि तत्त्वकौमुदीकारकी "प्रतिक्षणपरिणामिनो हि सर्व एव भावाः ऋते चिच्छक्तेः" यह एक पंक्ति क्रोचेके स्वयम्प्रकाश्यका विषय होते-होते रह गयी, रूपारूपके चक्करमें फँसे रहनेके कारण वे उसे ग्रहण न कर सके।

स्फोटवाद तथा शाब्दबोध

लोकव्यवहारके प्रशस्त पथका प्रदर्शक है,—वाणीका प्रपञ्च। यदि वाणीका मङ्गलमय आलोकस्तम्भ प्रकाश विकीर्ण न करता तो हमारी सारी क्रियाएँ यन्त्रवत् होतीं। इसी बातको व्यक्त करते हुए आचार्य दण्डीने कहा था कि शब्दात्मिका ज्योति यदि इस विश्वको आलोकित न करती तो सारा संसार अन्धकारमय रहता [1]। शब्द अपने व्यापक अर्थमें सभी देशोंके त्रिकालवर्ती वाङ्मयका बोधक है, पर सङ्कुचित अर्थमें इसे वाक्यका चरमावयव कहते हैं। भाषाविज्ञानी ह्विटने आदि पूर्ववर्ती विद्वान् तो इसे ही वाणीका चरमावयव मानते थे, क्योंकि किसी भी वाक्यकी रचना बिना शब्दोंके सम्भव नहीं है, परन्तु प्राचीन भारतीय विद्वानोंने गम्भीर विमर्शके उपरान्त वाक्यको ही वाणीका चरमावयव स्वीकार किया था [2]। आधुनिक भाषातत्त्वज्ञ भी अनुसन्धानोंके आधारपर तथा बच्चोंके भाषाग्रहणकी प्रक्रियाके दृष्टान्तपर वाक्यको ही वाणीका चरमावयव मानने लगे हैं।

इसी वाणीके चार रूपों अथवा अवस्थाओंका सङ्केत हमें ऋग्वेदके इन वचनोंमें प्राप्त होता है,—"चत्वारि वाक्परिमिता पदानि तानि विदुर्ब्राह्मणा ये मनीषिणः। गुहात्रीणि निहिता नेङ्गयन्ति तुरीया वाचं मनुष्या वदन्ति"। वाणीके इन रूपोंके परिज्ञानके लिए वैयाकरणोंके स्फोटात्मक शब्दब्रह्मको समझना आव-

---

१. इदमन्धतमः कृत्स्नं जायेत भुवनत्रयम्।
यदि शब्दाह्वयं ज्योतिरासंसारान्न दीप्यते ॥ काव्यादर्श १।४

२. वाक्यस्फोटोऽतिनिष्कर्षे तिष्ठतीति मतस्थितिः। भूषण

श्यक है, क्योंकि उन्होंने इन रूपोंको ब्रह्मकी शक्तिके रूपमें कल्पित किया है। दूसरे, इसके विवेचनसे शाब्दबोध एवं शक्तिकी भी स्पष्टता हो जायगी जिनका साहित्यसे विशेष सम्बन्ध है।

वैयाकरणोंके अनुसार शब्द दो प्रकारके होते हैं—व्यञ्जक शब्द तथा व्यङ्ग्य शब्द। व्यञ्जक शब्द वह है जिसका हमें श्रावण-प्रत्यक्ष होता है, अर्थात् श्रवणगोचर होनेवाली ध्वनि। यह व्यञ्जक शब्द व्यङ्ग्य शब्दकी अभिव्यक्तिका कारण है। व्यङ्ग्य शब्द स्फोटात्मक शब्दको कहते हैं। स्फोट अवयवहीन, रूपरहित, सर्वव्याप्त, एक एवं नित्य तत्त्व है। विचार करनेपर विदित होता है कि व्यञ्जक शब्द देश और कालके विभेदसे विभिन्न हो सकता है, परन्तु व्यङ्ग्य शब्द अर्थात् स्फोटमें कहीं भी किसी प्रकारका अन्तर सम्भव नहीं है। वैयाकरणोंका सिद्धान्त है कि जब हमें कोई शब्द सुनाई पड़ता है तब उस श्रूयमाण ध्वनि या व्यञ्जक शब्दसे बोध नहीं होता, प्रत्युत उसके द्वारा व्यक्त होनेवाले स्फोटसे ही उस शब्दका एवं उस शब्दके द्वारा अभिहित अर्थका ज्ञान होता है। उदाहरणार्थ स्फटिकके सामने जब रक्त कमल रखा जाता है तब वह स्फटिक उस कमलके रङ्गसे रङ्गीन हो जाता है। जैसे स्फटिककी इस रङ्गीनीका ज्ञान प्राप्त करनेके लिए प्रकाशकी अपेक्षा रहती है वैसे ही श्रूयमाण ध्वनिके किसी पूर्वरूपसे अनुरञ्जित स्फोटका ज्ञान प्राप्त करनेके लिए भी श्रूयमाण ध्वनिकी अपेक्षा होती है। कहनेका तात्पर्य यह है कि स्फटिक-स्थानीय स्फोटमें पड़े प्रतिबिम्बको प्रकाशित करनेके लिए व्यञ्जक शब्द हेतुभूत है। इसलिए वैयाकरणोंका यह भी सिद्धान्त है कि अनुच्चरित शब्द किसी दूसरेको बोध नहीं करा सकते। अनुच्चरित शब्दका विचार आगे किया जायगा। यहाँ इतना ही ज्ञातव्य है कि इसका तात्पर्य स्फोटात्मक शब्दसे है। दृष्टान्त एवं दार्ष्टान्तिकके विषयमें भी यह स्मरण रखना होगा कि स्फोट एवं स्फटिकमें साम्यका आधार केवल प्रतिबिम्ब है। वैषम्य यह है कि स्फटिकस्थ प्रतिबिम्बकी अपेक्षा स्फोटस्थ प्रतिबिम्ब स्थायी होता है। स्फटिकका प्रतिबिम्ब बिम्बसापेक्ष है। बिम्ब सामने रहनेपर ही रहता है। किन्तु स्फोटका प्रतिबिम्ब बिम्बके हट जानेपर भी रहता है। स्फोटका प्रतिबिम्ब एक छायाके समान

होता है। श्रूयमाण ध्वनि या व्यञ्जक शब्द प्रकाशके रूपमें श्रोताके अन्तः-करणका व्यङ्ग्य शब्दसे सम्बन्ध कराकर नष्ट हो जाता है। वैयाकरणोंने इस ध्वनिको ग्रहण करनेकी भी एक विशेष प्रक्रिया बतायी है। उनका कहना है कि वक्ताकी ध्वनिके उत्पन्न होते ही श्रोताका अन्तःकरण कर्णरन्ध्रसे बहिर्गत होकर ध्वनिस्थलमें ही ध्वनिको उसी प्रकार ग्रहण करता है जिस प्रकार बाह्यस्थित घटपटादिक द्रष्टव्य वस्तुओंको वह नेत्रमार्गसे बहिर्गत होकर तत्तद् देशोंमें ही प्राप्त करता है। इसपर शङ्का हो सकती है कि अन्तःकरणका तत्तद् विषयग्राहिणी इन्द्रियोंसे बाहर जाकर विषयदेशमें ही उन विषयोंका ग्रहण करना प्रमाणप्रतिपन्न नहीं। वस्तुतः इन्द्रियोंकी व्याप्तिमें पड़नेवाले विषय स्वतः ज्ञात हो जाते हैं। पर ऐसा कहना ठीक नहीं है। कभी-कभी हमारी आँखें तो खुली रहती हैं, पर सामनेसे गया हुआ व्यक्ति हमको ज्ञात नहीं होता। प्रायः ऐसा होता है कि श्री गुरुचरणोंके अध्यापनकालमें समयका पता नहीं चलता। इन सबका कारण अन्तःकरणका बहिर्मुख न होना ही है। साङ्ख्य और वेदान्तने इसे प्रमाणित भी किया है। उनका विचार है कि प्रकृतिसे महत्तत्त्व, महत्तत्त्वसे अहङ्कार और अहङ्कारसे इन्द्रियादिकोंकी परिणति होती है। अतः अहङ्कार व्यापक है और इन्द्रियाँ व्याप्य। अहङ्कार विश्वव्याप्त है। अतः अन्तःकरण इन्द्रियोंके माध्यमसे अहङ्कारको किसी सीमातक सञ्चरण करा सकता है। अनुभवसे भी यह बात प्रमाणित होती है। जब किसी स्थान-पर घण्टेकी ध्वनि सुनाई पड़ती है तब श्रोता कहता है कि अमुक स्थान पर घण्टा बज रहा है। उस स्थानको श्रोताके नेत्र तो प्रत्यक्ष कर नहीं रहे हैं। अतः मानना पड़ेगा कि कर्णविवरसे बाहर जाकर अन्तःकरण ही उसका प्रत्यक्ष कर रहा है। अस्तु।

अब प्रश्न यह होता है कि व्यञ्जक शब्दोंका हेतु क्या है और किस अवस्थामें वे व्यञ्जित होते हैं। हेतुके विषयमें पाणिनीयशिक्षा कहती है—

आत्मा बुद्ध्या समेत्यार्थान्मनो युङ्क्ते विवक्षया।
मनः कायाग्निमाहन्ति स प्रेरयति मारुतम्॥
सोदीर्णो मूर्ध्न्यभिहतो वक्त्रमापद्य मारुतः।
वर्णाञ्जनयते··· ··· ··· ··· ········· ···॥

तात्पर्य यह कि पहले आत्मा अर्थात् अन्तःकरणावच्छिन्न चैतन्य अपनी वृत्तिविशेष बुद्धिसे विषयको समझता है। फिर उसे समझानेकी इच्छा उत्पन्न होनेपर वह अपनी द्वितीय वृत्ति मनसे संयुक्त होता है। मन प्रेरणा पाते ही शरीराग्निको प्रज्वलित करता है। तत्पश्चात् उस अग्निसे अत्यन्त सूक्ष्म वायुकी उत्पत्ति होती है। वह वायु मूलाधिष्ठानचक्र, नाभिचक्र हृदयचक्रके क्रमसे बढ़ती हुई कण्ठमार्गसे निस्सृत होकर मूर्धासे टकराती है। अवरुद्ध होकर मुखमें लौटती है और फिर स्थान, करण एवं प्रयत्नके बलसे ध्वनियोंकी अर्थात् व्यञ्जक शब्दोंकी उत्पत्ति होती है।

उक्त अत्यन्त सूक्ष्म वायुकी उत्पत्तिसे लेकर व्यक्तितककी वाणीकी जिन चार अवस्थाओंका सङ्केत हम ऋग्वेदमें पाते हैं उनका वर्णन एवं विवेचन आगमशास्त्रों तथा शब्दानुशासनके ग्रन्थोंमें मिलता है। वाक्यपदीयकार कहते है—

परा वाङ्मूल चक्रस्था पश्यन्ती नाभिसंस्थिता।
हृदिस्था मध्यमा ज्ञेया वैखरी कण्ठदेशगा॥
वैखर्या हि कृतोनादः परश्रवणगोचरः।
मध्यमया कृतोनादः स्फोटव्यञ्जकमुच्यते॥

अर्थात् जननेन्द्रिय तथा मलत्याग करनेवाली इन्द्रियके मध्यस्थानमें शरीरके आन्तर पक्षसे एक चक्र की[1] कल्पना की गयी है जिसे मूलाधिष्ठान-चक्र कहते हैं। आगम तथा योगके ग्रन्थोंमें इस चक्रकी बड़ी महिमा गायी गयी है। यहीं कुंडलिनी शक्ति सुप्त पड़ी रहती है जो विश्वकी सृष्टि, स्थिति एवं लयका हेतु है। इसीको योगी जागरित करके सुषुम्नाके मध्यसे ब्रह्म-रन्ध्रतक पहुँचाते हैं जिससे आत्मसाक्षात्कार होते ही मधु बरसने लगता है।

---

१. इन चक्रोंको कपोलकल्पनाके रूपमें समझकर उड़ा देना ठीक नहीं है। काशीके विज्ञ डा० राखालदास रायने ग्रे की एनॉटॉमीके चित्रोंमें इन चक्रोंका दर्शन हम लोगोंको का० हि० वि० वि० के सन् १९४७ में होनेवाले फिलासफी काँग्रेसके अधिवेशनमें कराया था। आपका अनुसन्धानकार्य अभी भी चल रहा है।

इस प्रकारके महत्त्वपूर्ण स्थलपर ही वायुका—वाणीका आदि रूप उत्पन्न होता है जिसे परा वाक् कहते हैं। आगमोंने इसे परा शक्तिके रूपमें कल्पित किया है। इसका पूर्ण प्रत्यक्ष अर्थात् सविकल्पक ज्ञान योगियोंको भी समाधितकमें नहीं होता। वे भी इसमें यत्किञ्चित्स्वरूपका अर्थात् निर्विकल्पकरूपका ही ज्ञान प्राप्त करते हैं। यह अत्यन्त सूक्ष्म वायुरूपिणी वाणी जिस समय नाभि-चक्रमें पहुँचती है उस समय योगी उसे सविकल्पक रूपमें देख लेते हैं। इस स्थलपर इसका नाम पश्यन्ती है। यहाँसे आगे बढ़नेपर यह हृदयदेशमें आती है। यहाँ इस मध्यमा नामसे अभिहित करते हैं। वाणीका यह रूप हम लोगोंको ध्यान या विचारकी अवस्थामें प्रतीत होता है। इसका प्रमाण यह है कि ध्यानमें हम जिस मन्त्रका जप करते हैं वह अपने शब्दात्मक एवं अर्था-त्मक—इन उभय रूपोंमें भासित होता है तथा विचारोंके साथ तो शब्दार्थ लगे ही रहते हैं। जिन लोगोंको लिपि-ज्ञान नहीं है उन्हें वर्णात्मक रूप तो नहीं, पर अर्थात्मक अवश्य ही ध्यान देनेपर प्रतीत होगा। वाणीका यही रूप कण्ठविवरमें आकर वैखरी रूपसे अभिहित किया जाता है। यह ध्वनि दूसरों-को सुनाई पड़ती है। परन्तु इसका कार्य यह है कि पश्यन्ती वाणीके स्फोटपर उल्लिखित या प्रतिबिम्बित स्फोटव्यञ्जक शब्दोंकी ओर श्रोताके अन्तःकरणको आकृष्ट करके नष्ट हो जाय। इसीसे इसे भेरीनिनादवत् निरर्थक कहा गया है। यहाँ यह ध्यान देना आवश्यक है कि वैयाकरणोंने मध्यमा वाणीको ही स्फोट में उल्लिखित या प्रतिबिम्बित होनेवाली माना है। इसका कारण यह है कि यदि वे वैखरीको स्फोटमें प्रतिबिम्बित होनेवाली मानते तो ध्यान करनेवाले व्यक्तिको ध्यानमें शब्दात्मक उपस्थिति नहीं हो सकती थी, क्योंकि जपमन्त्रका वैखर्या-त्मक उच्चारण किये बिना भी अनुभवमें शब्दात्मक उपस्थिति होती है। इससे मध्यमाको ही स्फोटमें अङ्कित होनेवाली वाणी माना गया। दूसरा कारण यह भी है कि उच्चरित ध्वनियाँ अपने उच्चारणक्रमसे एकके पश्चात् दूसरी आती है और पहली विनष्ट हो जाती है। अतः किसी शब्दकी जिस समय हमें अन्तिम ध्वनि सुनाई पड़ेगी उस समय शेष पूर्ववर्तिनी ध्वनियाँ रहेंगी ही नहीं। फिर इन ध्वनियोंसे व्यञ्जक शब्दका समन्वित रूप भी नहीं प्रत्यक्ष

होगा, अर्थकी बात तो दूर रही। इसीसे वैयाकरण मध्यमासक्त स्फोटमें ही अर्थकी शक्ति मानते हैं।

यह शक्ति क्या है ? वैयाकरणोंके मतमें स्थूल रूपसे बोधक शब्दों एवं बोध्य पदार्थोंके सम्बन्धको ही शक्ति कहा गया है,—'शब्दार्थसम्बन्धः शक्तिः'। लोकव्यवहारमें भी ऐसा देखा जाता है कि जिस व्यक्तिको साथ-साथ रहनेवाले दो पदार्थोंका तथा उनके सम्बन्धका ज्ञान हो जाता है वह व्यक्ति कालान्तरमें उनमेंसे किसी एक पदार्थको देखकर दूसरेका स्मरण करता है और साथ ही उनका सम्बन्ध भी उसे स्मृत हो जाता है। इसीसे यह सामान्य व्याप्तिग्रह बन गया है कि 'एकसम्बन्धिज्ञानमपरसम्बन्धिनं स्मारयति।' परन्तु यदि उक्त व्यक्तिने दो पदार्थोंको देखा हो, पर उनके सम्बन्धसे अनभिज्ञ हो तो उसे एकको देखनेपर दूसरा कभी भी स्मृत नहीं होगा। अतः इसी सम्बन्ध को शक्ति कहते हैं। जैसा बताया गया है, वैयाकरण यह शक्ति मध्यमासक्त स्फोटमें ही मानते हैं जिसकी अभिव्यक्ति दूसरोंको श्रूयमाण ध्वनियोंसे ही हो सकती है। प्राचीन नैयायिक 'अस्मात्पदादयमर्थो बोधव्य इति ईश्वरेच्छा-शक्तिः' मानते थे। नव्य न्यायने इच्छाकी व्याप्तिमें मनुष्यकी इच्छाको भी स्थान दिया। इन दोनों प्रकारकी इच्छाओंका तात्पर्य स्वाभाविक रूपमें शब्द और अर्थ-का सम्बन्ध लेना चाहिये। यदि कोई अस्वाभाविक रूपमें किसी शब्दसे किसी अर्थको उपस्थित करना चाहे तो प्रसन्नतापूर्वक कर सकता है, परन्तु इस प्रकार-का प्रयोग अप्रचलित ही रहेगा। इन नैयायिकोंका विचार है कि स्फोट आदि-की कल्पनामें गौरव एवं क्लिष्टता है। अतः पश्यन्ती और मध्यमाके क्रमसे आती हुई बैखरी वाणीमें ही शक्ति स्वीकार लेना चाहिए।

इस मतको माननेमें शाब्दबोधके लिये यह कठिनाई उपस्थित होती है कि प्रथम क्षणमें उत्पन्न द्वितीय क्षणमें गृहीत एवं तृतीय क्षणमें विनष्ट होने वाली किसी ध्वनिका अगली ध्वनिके साथ सम्बन्ध कैसे घटित होगा ? इस प्रकार अनेक ध्वनियोंसे युक्त किसी पदका भी अर्थ बोध न हो सकेगा वाक्यों तथा महावाक्योंका तो कहना ही क्या। वैयाकरणोंने इस कठिनाईको हल करनेके लिए ही मध्यमासक्त स्फोटकी कल्पनाकी थी और उसमें अपेक्षाकृत

स्थायित्व मान लिया था। श्रूयमाण ध्वनिको उन्होंने दूसरोंके प्रति स्फोटकी अभिव्यक्तिका साधन सिद्ध किया था। इसका समाधन करते हुए नैयायिकोंका कथन है कि अन्तःकरण ध्वनिस्थलमें ही ध्वनिको ग्रहण करता है,—यह मानना ठीक नहीं प्रत्युत ध्वनि स्वयं श्रोता तक पहुँचती है, यही मानना समीचीन है। ह्रद, नदी आदिमें किसी एक स्थानपर उत्पन्न होने वाला हिल्लोल जैसे प्रथम क्षणमें उत्पन्न होता है, द्वितीय क्षणमें स्थित रहता है तथा तृतीय क्षणमें दूसरे हिल्लोलको जन्म देकर नष्ट हो जाता है और फिर इसी क्रमसे दूसरा तीसरेको, तीसरा चौथेको उठाता हुआ अन्तमें तटतक पहुँचता है वैसे ही अर्थात् इस बीचीतरङ्गन्यायसे वक्ता द्वारा उच्चरित ध्वनि समस्त आकाशमें व्याप्त हो जाती है, यद्यपि वक्ताकी शक्तिके अनुसार श्रोतातक ही, आकाशके एक देश तकही उस ध्वनिका श्रवण होता है। आधुनिक वैज्ञानिकोंने इस ज्ञानको प्राप्त करके टेलीफोन, तार, बेतारका तार आदिका आविष्कार किया है। परन्तु इससे यह न समझना चाहिये कि पूर्वोक्त वेदान्तियोंका मत इससे बाधित हो जायगा, क्योंकि ऐसा भी कहा जा सकता है कि उक्त यन्त्रोंकी सहायतासे अन्तःकरणके गमनकी शक्ति अपेक्षाकृत बहुत बढ़ जाती है। जो भी हो, परमार्थका विकल्परहित ज्ञान सर्वज्ञता-सापेक्ष है। पर नैयायिक ध्वनिके श्रवणमें बीचीतरङ्गन्याय ही स्वीकार करते हैं। इस प्रक्रियासे पहुँची हुई ध्वनि श्रोताको अनुभूत होकर अपना संस्कार डाल देती है। फिर किसी शब्दका बोध हमें उस शब्दके पूर्व-पूर्व वर्णोंके अनुभवोंके संस्कारोंके सहित अन्तिम वर्णके अनुभवसे होता है। नैयायिक इसी पूर्व-पूर्ववर्णानुभवसध्रीचीन चरमवर्णानुभवको ही शाब्दबोधके प्रति कारण मानते हैं और इसीमें शक्ति भी स्वीकार करते हैं। उदाहरणार्थ 'घट' पद ले लीजिये। इसमें घ्, अ, ट्, अ ये चार वर्ण हैं। अन्तिम 'अ' का श्रवण सबके अन्तमें होगा। अतएव उस अ के अनुभवके सहित जो प्रथम तीन वर्णोंके अनुभवात्मक संस्कार हैं उनसे हमें घट पदका ज्ञान होता है और इसीमें कलश अर्थकी शक्ति रहती है।

नैयायिकोंकी उक्त प्रक्रिया समीचीन नहीं प्रतीत होती। वैयाकरणोंने इस प्रक्रियासे उत्पन्न होनेवाले अनेक दोषोंका उद्घाटन किया है—१. नैया-

यिकोंकी प्रक्रिया माननेसे श्रोताको केवल अन्तिम वर्णका ही अनुभव होगा, शेष वर्ण स्मृत होंगे, इनका प्रत्यक्ष न होगा। परन्तु हमने अमुक वाक्य सुना, इस व्यवहारमें श्रोताको वाक्यका प्रत्यक्ष हो रहा है। २. व्यवहारमें लोग पदोंके लिए एक दो आदि संख्याओंका उपयोग करते हैं जैसे 'एक ही घट है'। नैयायिकोंकी दृष्टिसे घटमें एकत्वकी विवक्षा अनुपपन्न है, क्योंकि 'है' का 'ए' सहकृत शेष वर्णोंका स्मरण 'घट'में एकत्वकी अतिरिक्त प्रतिष्ठा नहीं रहने देगा। ३. किसी कविताको सुनकर कोई कहता हुआ पाया गया कि 'यह वही कविता है जिसे मैंने अमुक व्यक्तिके मुखसे सुना था'। इस वाक्यमें 'यह वही कविता है' की उपपत्ति नैयायिक प्रक्रिया नहीं दे पाती है, क्योंकि उक्त व्यक्तिके द्वारा अतीतमें सुनी गयी कविता सुननेके तृतीय क्षणमें ही समाप्त हो चुकी थी। कुछ लोग कहते हैं कि यहाँ 'वही' का व्यवहार 'सजातीय' अथवा 'समान' अर्थमें हुआ है जैसे महाभाष्यका यह कथन है कि 'हम लोग उन्हीं चावलोंको खा रहे हैं जिन्हें मगधमें खाया था।' इसके विरोधमें दूसरों-का तर्क है कि 'यह वही कविता है' इसमें यदि आप सजातीयत्वका बोध कराते हैं तो फिर 'यह कविता उस कविताके समान है' इस व्यवहारमें आप किसका बोध करायेंगे? दोनों वाक्योंमें तात्पर्यभेद तो स्पष्ट ही है। ४. सबसे मुख्य दोष उक्त प्रक्रियामें यह है कि वह स्मृतिका बहुत अधिक सहारा लेती है। यह स्मृति सदा अनुभवके क्रमसे ही उद्बुद्ध नहीं होती, यह लोका-नुभवसिद्ध है। ऐसी स्थितिमें 'राज' पदका 'जरा' अथवा 'रस' का 'सर' रूप भी समझमें आना चाहिए। परन्तु ऐसा कभी नहीं होता। यदि यह कहा जाय कि शब्द-श्रवण-व्यापार में अनुभवके अनुक्रमसे ही स्मृति होती है तो इसमें कोई प्रमाण नहीं मिलता। अतएव वैयाकरणोंका सिद्धान्त है कि श्रूयमाण ध्वनियोंमें अर्थबोधकता नहीं होती। वस्तुतः यह शक्ति स्फोटात्मक शब्दोंमें होती है। स्फोट ही वैयाकरण दर्शनका सिद्ध तत्त्व है जिसे वे शब्द-ब्रह्म कहते हैं। शब्दब्रह्म नित्य है। इससे कुछ लोगों को भ्रम हो गया है कि वैयाकरण जैसे लोग जो शब्द और अर्थको नित्य मानते हैं वे भाषाकी

परिवर्तनशीलताकी उपेक्षा करते हैं[१]। कहना नहीं होगा कि इन्होंने 'स्फोट' को ब्रह्म और 'परावाक्' को शक्तिके रूपमें ठीक ठीक नहीं समझा। इन्हीं वैयाकरणोंके परम प्राचीन आचार्य यास्कने तथा उनके टीकाकार दुर्गाचार्यने जिस अर्थातिशयकी विवेचना इन शब्दोंमें की है,—

वर्णागमो वर्णविपर्ययश्च द्वौ चापरौ वर्णविकारनाशौ।
धातोस्तदर्थातिशयेन योगस्तदुच्यते पञ्चविधं निरुक्तम्॥

उस अर्थातिशयसे व्याकरण दर्शनकी रचना करनेवाले अपरिचित नहीं रहे होंगे, भले ही आधुनिक भाषाविज्ञानियोंके लिए यह आजकी वस्तु हो। अस्तु।

शाब्दबोधके विषयपर, सङ्केतपर विचार करनेसे विदित होता है कि कभी किसी शब्दसे जातिका, कभी व्यक्तिका (जिसे यदृच्छा कहते हैं), कभी गुण-का और कभी क्रियाका बोध होता है। जैसे 'राम सुशील लड़का है,' इसमें राम यदृच्छापूर्वक दिया गया व्यक्तिका नाम है। सुशील गुण है। लड़का जाति है और है क्रिया है। महाभाष्यकारादि वैयाकरणोंका यही मत है। मीमांसक लोग जातिमें ही सङ्केत मानते हैं तथा नैयायिक जातिविशिष्ट व्यक्ति में सङ्केत ग्रहण करते हैं। जो भी हो, शाब्दबोधके लिए न्यायमुक्तावलीमें बताया गया है,—

पदज्ञानं तु करणं द्वारं तत्रपदार्थधीः।
शाब्दबोधः फलं तत्र शक्तिधीः सहचारिणी॥
आकांक्षा योग्यतासत्तिस्तात्पर्यज्ञानमिष्यते।
कारणम्········ ॥

अर्थात् सर्वप्रथम वाक्यमें प्रयुक्त हुए पदोंका ज्ञान होना चाहिये। यह असाधारण कारण करण है। शाब्दबोध-व्यापारमें द्वितीय स्थिति पदोंके अभि-धेयकी आती है जिसका कारण है शक्तिज्ञान। तृतीय स्थिति उपस्थित हुए पदार्थोंमें परस्पर अन्वयकी योग्यता है, जिसके लिए चार चीजें आवश्यक हैं—१. आकांक्षा २. योग्यता ३. सन्निधि ४. और तात्पर्य। सन्निधिकी आव-

---

१. सिद्धान्त और अध्ययन, प्रथम भाग पृ. सं. २०९

पृष्ठ २०७,

श्यकता ग्राहककी अपेक्षा रखती है। बुद्धिमान् ग्राहकको दूर-दूर पड़े हुए पदार्थ भी सरलतासे एकत्र हो जाते हैं और सामान्य व्यक्तिको कुछ ही अन्तर पर पड़े हुए पदार्थ अन्वित नहीं होते। अतः कई आचार्योंने पदोंमें सन्निधिका होना आवश्यक नहीं माना है। परन्तु वक्ताके तात्पर्यकी अन्विति निश्चित रूपसे उपादेय मानी जा सकती है। इन सब अङ्गोंसे युक्त होनेपर ही शाब्दबोध निष्पन्न होता है। शाब्दबोधके विषयमें अभिहितान्वयवाद, अन्विताभिधानवाद आदि कई मत प्रचलित थे, उनके विवरणका यहाँ कोई उपयोग नहीं।

काव्य एवं कला

आधुनिक हिन्दी साहित्यमें बहुतसे लोग काव्यको भी कला माननेके पक्षमें हैं। बाबू गुलाबरायने इसको दूसरे ढङ्गसे कहा है—"वास्तवमें हमारे यहाँ काव्य कलाओंके अन्तर्गत नहीं है, वरन् कला और काव्यके कलेवर भिन्न होते हुए उनकी आत्मा एक है। काव्यका आत्मस्वरूप रस ही कलाओंको अनुप्राणित करता है[१]।" इसी दृष्टिसे विचार करनेके कारण एम. हिरियन्नाने सौन्दर्यशास्त्रका विकास भारतीय साहित्यशास्त्रकी रसपरम्परामें ढूँढ़नेका प्रयास किया है[२]। परन्तु जहाँतक हम समझते हैं, इस प्रकारकी चेष्टा अध्यासकी सृष्टि करना चाहती है। कमसे कम हम काव्य अथवा साहित्यसे कलाका भेदक रस और रञ्जन ही मानते हैं। कलाओंमें कौशल या कारीगरीका चमत्कार होता है। हारानचन्द्र चकलादारने भी कलाका तात्पर्य कौशलसे लिया है[३]। और रस, काव्यकी, अपनी भूमि है। अन्य कलाओंसे रसचर्वणाकी उत्पत्ति, उन कलाओंमें काव्यांशका प्रसाद है।

कुछ लोग चौसठ कलाओंमें से समस्यापूरणको छोड़कर अन्यत्र भी

---

१. सिद्धान्त और अध्ययन प्रथम भाग पृ० सं० ११५
२. द्रष्टव्य "Indian Aestheties" by M. Hiriyanna. First oriental Conference Poona II Vol.
३. द्रष्टव्य "Studies In Vatsyayana Kamsutra." by Haran Chandra Cakladara.

काव्यको कलारूपसे अभिहित मानते हैं, परन्तु ऐसी बात नहीं है। विद्वानोंके विचारणार्थ उक्त कामसूत्रकी अवतारणा की जाती है—

गीतम्, वाद्यम्, नृत्यम्, आलेख्यम्, विशेषकच्छेद्यम्, तण्डुलकुसुमबलिविकाराः, पुष्पास्तरणम्, दशनवसनाङ्गरागः, मणिभूमिकाकर्म, शयनरचनम्, उदकवाद्यम्, उदकाघातः, चित्राश्चयोगाः, माल्यग्रन्थनम्, विकल्पाः, शेखरकापीडयोजनम्, नेपथ्यप्रयोगाः, कर्णपत्रभङ्गाः, गन्धयुक्तिः, भूषणयोजनम्, ऐन्द्रजालाः कौचुमाराश्च योगाः, हस्तलाघवम्, विचित्रशाकयूषभक्ष्यविकारक्रियाः, पानकरसरागासवयोजनम्, सूचीवानकर्माणि, सूत्रक्रीडा, वीणाडमरुवाद्यकानि, प्रहेलिका, प्रतिमाला, दुर्वाचकयोगाः, पुस्तकवाचनम्, नाटकाख्यायिकादर्शनम्, काव्यसमस्यापूरणम्, पट्टिकावेत्रवानविकल्पाः, तक्षकर्माणि, तक्षणम्, वास्तुविद्या, रूप्यरत्नपरीक्षा, धातुवादः, मणिरागाकरज्ञानम्, वृक्षायुर्वेदयोगाः, मेषकुक्कुटलावकयुद्धविधिः, शुकसारिकाप्रलापनम्, उत्सादने संवाहने केशमर्दनेच कौशलम् अक्षरमुष्टिकाकथनम्, म्लेच्छितविकल्पान्, देशभाषाविज्ञानम्, पुष्पशकटिका, निमित्तज्ञानम्, यन्त्रमातृका, धारणमातृका, सम्पाठ्यम्, मानसीकाव्यक्रिया, अभिधानकोषः, छन्दोज्ञानम्, क्रियाकल्पः, छलितकयोगाः, वस्त्रगोपनानि, द्यूतविशेषाः, आकर्षक्रीडा, बालक्रीडनकानि, वैनयिकीनां वैजयिकीनां व्यायामिकीनां च विद्यानां ज्ञानम्, इति चतुष्षष्टिरङ्गविद्याकामसूत्रस्यावयविन्यः।

जिन अनुसन्धायकोंकी सम्मतिमें भारतीय कलाओंकी संख्या पाँच सौ से भी अधिक है और उसको देखते हुए काव्यको भी कला कहना सर्वथा युक्ति सङ्गत है उनसे निवेदनमें इतना ही कहा जा सकता है कि ऐसी स्थिति में उनकी कलाका कोई अर्थ न होगा—उससे कोई भी अर्थ लिया जा सकता है। दूसरी बात यह, कि संस्कृत साहित्यशास्त्रकी सारी परम्परा कलाको कौशलके अर्थमें ही लेती रही है। तीसरे जन-साधारणमें आज कालका कौशल कौशल अर्थ ही लिया जाता है। चौथे, हिन्दी साहित्यमें जिसकलाकी चर्चा रात-दिन होती रहती है वह अंग्रेजी 'आर्ट' का अनुवाद है, और पाश्चात्य 'आर्ट' की धारणा अत्यन्त प्राचीन कालसे लेकर आज तक

कौशल मय रही है—इसे हम आरम्भमें बता आए हैं। इन सब प्रामाणिक बाधाओंके रहते हुए कलाको निरर्थक या निर्गुण कैसे माना जा सकता है जिससे अनन्त अर्थका सङ्केतग्रह लब्ध हो सके।

रसकी अलौकिकता

स्थायी भावका विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी भावोंके साथ व्यङ्गय-व्यञ्जकरूप सम्बन्धसे अथवा स्थायी भावका विभावादिकोंके साथ परस्पर सम्मेलन हो जानेसे रसकी निष्पत्ति अर्थात् अभिव्यक्ति होती है। कहनेका तात्पर्य यह कि उक्त काव्यरस विभावादिजीवितैकप्राण है। साथ ही प्रपाणक-रसन्यायसे समूहालम्बनात्मक भी है। वह सामाजिकनिष्ठ एवं अलौकिक चमत्कारकारी है। अलौकिक इस अर्थमें कि (१) इसके समान अन्य कोई प्रतीति संसारमें नहीं होती, और यह (२) लौकिक सामग्रीजन्य रससे विलक्षण होता है।

(१) इस विश्वके समस्त वस्तुजात या तो किसीके कार्य हैं अथवा किसीके ज्ञाप्य है। विचार करनेपर विदित होता है कि रस न तो किसीका कार्य है और न ज्ञाप्य ही। कार्य उसको कहते हैं जो किसीसे उत्पन्न हो—जैसे घट आदि। घटरूपी कार्यके लिए उपादान कारण मृत्तिका तथा निमित्त कारण कुलाल एवं सहकारी कारण चक्र, दण्ड आदिकी आवश्यकता पड़ती है। अब यदि हम विभावादिके साथ अन्वय-व्यतिरेकसे रहनेवाले रसको कार्य मानें तो विभावादिको कारण होना चाहिये। विचार करनेपर विदित होता है कि विभावादि रसके उपादान कारणरूपमें कल्पित नहीं हो सकते। कारण यह है कि उपादान कारण ही कार्यरूपमें परिणत होता है और रसरूपमें परिणत होनेवाले स्थायी भाव माने गये हैं, न कि विभावादि। विभावादिकोंको सहकारी मानकर रसकी कार्यरूपता सिद्ध नहीं की जा सकती। अतः यदि विभावादि रसके कारण हो सकते हैं तो निमित्त कारण ही हो सकते हैं और इसीकी सिद्धिके ऊपर रसकी कार्यता प्रमाणितकी जा सकती है। पर ध्यान देनेसे स्पष्ट होगा

कि विभावादि निमित्त नहीं हो सकते, क्योंकि संसारमें ऐसा देखा जाता है कि कार्यके सम्पन्न होनेके अनन्तर निमित्त और नैमित्तिक परस्पर निराकाङ्क्ष हो जाते हैं—जैसे घट बननेके पश्चात् घट और कुलाल एक दूसरेकी अपेक्षा नहीं रखते [1]। परन्तु रस विभावादिजीवितैकप्राण कहा गया है। विभावादिके हटते ही रसचर्वणा भी समाप्त हो जाती है।

रसको ज्ञाप्य भी नहीं कह सकते, क्योंकि वही वस्तु ज्ञाप्य कही जाती है जो पहलेसे सिद्ध हो। उदाहरणार्थ मन्दिरस्थ घटपटादि दीपकके द्वारा ज्ञाप्य होते हैं। दीपक उनको उत्पन्न नहीं करता, केवल आलोकित कर देता है। साथ ही एक सामग्री निष्पादिका और ज्ञापिका युगपत् नहीं हो सकती। इसीलिए ज्ञाप्यका लक्षण है 'स्वभिन्नतजन्यज्ञानविषयः' अर्थात् घटपटादि-भिन्न दीपकजन्य ज्ञानका विषय घटादिक ज्ञाप्य होता है। अब समूहालम्बनात्मक रसपर दृष्टि दीजिये। विभावादि उसके ज्ञापक नहीं हो सकते, क्योंकि रस विभावादिसे पूर्व विद्यमान नहीं रहता। दूसरे प्रपाणकरसन्यायसे रसकी स्थिति होनेके कारण विभावादि उससे भिन्न होकर ज्ञापक नहीं हो सकते। हाँ, स्वाभिन्नतज्जन्यज्ञानविषयक' ज्ञाप्यता इसमें रह सकती है अर्थात् रसभिन्न विभावादिजन्य ज्ञानका विषय रस कहा जा सकता है। अतएव रसको विभावादिके

---

१. इसपर यह प्रश्न किया जाता है कि निमित्त और नैमित्तिकका यौगपद्य नाश संसारमें भी देखा जाता है जैसे द्वित्वादि संख्याकी अपेक्षाबुद्धिमें अथवा चन्दनादिस्पर्शजन्य सुखमें। इसका उत्तर यह है कि द्वित्वादि संख्या नित्य है, पर अपेक्षाबुद्धिके तिरोहित हो जानेसे उसकी प्रतीति नहीं होती। अतः अपेक्षाबुद्धिके नाशसे संख्याका नाश समझना भ्रम है। इसी प्रकार चन्दनस्पर्शके हटनेसे सुखका विनाश नहीं होता, प्रत्युत कारणाभावके कारण कार्यकी उत्पत्ति नहीं होती। फिर उत्पन्न सुखका विनाश कैसे होता है? विरोधी गुणोंके मध्यमें आ जानेके कारण। यदि कहा जाय कि यही स्थिति रसके विषयमें भी युक्त-युक्ति है तो ठीक नहीं, क्योंकि रसचर्वणाकी विगलितवेद्यान्तर दशामें किसी प्रकारके अन्तरायका प्रश्न ही नहीं उठता।

द्वारा व्यञ्जित होकर चर्वणीय मानना चाहिये। किन्तु प्रश्न यह है कि जब संसारमें कारक और ज्ञापकसे भिन्न और किसी प्रकारके हेतु नहीं हैं तब विभावादिके द्वारा उन्मीलित रसचर्वणा किस प्रकार सम्भव हुई? वस्तुतः यही रसका अलौकिकत्व-विधायक है।

अच्छा, यह भी मान लिया जाय, परन्तु विभावादिकोंसे उत्पन्न रस 'ज्ञेय' हैं, इस व्यवहारकी सङ्गति कैसे होगी? जिस प्रकार शिखाके नष्ट होनेपर 'शिखी ध्वस्तः' यह औपचारिक व्यवहार होता है उसी प्रकार रसकी चर्वणाको लेकर रसकी उत्पत्ति और विनाशकी चर्चा की जाती है[1]। इसी अर्थमें रस कार्य भी कहा जा सकता है।

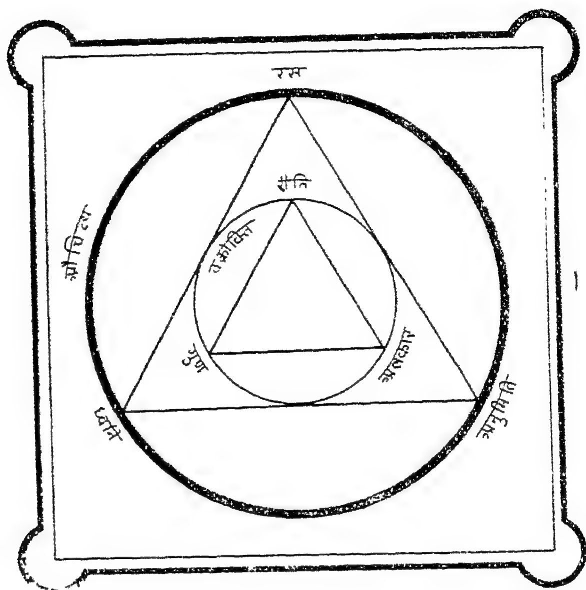
दूसरी बात यह है कि लोकानुभूतिसे रसानुभूति विलक्षण होती है। जिन्हें हम संसारमें निमित्त कारण, सहकारी कारण और कार्य कहते हैं वे ही विभावनव्यापार एवं अनुभावनव्यापार आदिकी विशिष्टतासे काव्यमें आलम्बन विभाव, उद्दीपन विभाव तथा अनुभाव कहे जाते हैं। यह विशिष्टता या अलौकिता है वैयक्तिकता या लौकिकताका तिरोभाव। काव्यानुशीलनमें प्रवृत्त होनेपर दुष्यन्त तथा शकुन्तला पारस्परिक रतिके उद्बोधकरूपमें अनुभूत नहीं होते, प्रत्युत हमारी रतिको जागरित करते हैं। यही स्थिति उद्दीपन विभाव और अनुभावोंकी भी समझनी चाहिये, वस्तुतः यही इनकी अलौकिकता है। अन्यथा जब हम संसारमें दो व्यक्तियोंका रत्युद्बोधक व्यापार देखते हैं तो या तो लज्जासे सिर झुका लेते हैं अथवा घृणासे आँखें फेर लेते हैं या रागद्वेषमें प्रसक्त हो जाते हैं। परन्तु काव्यानुशीलनसे इसकी ठीक विपरीत स्थिति आ जाती है। आश्रयका भाव ही हमारा अपना भाव हो जाता है।

इसके साथ ही लौकिक अनुभूति गुण-अलङ्कारादिसे सम्भिन्न नहीं प्रतीत होती। अतः काव्यानुभूतिको अलौकिक कहा जाता है।

---

१. किन्तु यह स्थिति वहींके लिए कही जा रही है जिसको ध्यानमें रखकर कविने अपनी योजना विवक्षित की है। अन्यत्र शुक्लजीके मतानुसार "निकृष्ट रसदशा" या आचार्योंकी कविविवक्षाके अनुकूल सहृदयोंकी मनःस्थिति विचरती है।

भारतीय साहित्य-सम्प्रदायोंका सम्बन्ध-चित्र



औचितीमनुधावन्ति सर्वे ध्वनिरसोन्नयाः ।
गुणालंकृतिरीतीनां नयाश्चानृजुवाङ्मयाः ॥

उपस्कारक ग्रन्थोंकी नामानुक्रमणिका

(अधोलिखित तालिका साहित्य-भेद एवं विषय-भेदको दृष्टिमें रखकर प्रस्तुत की जाती है)

संस्कृत खण्ड

वैदिक साहित्य—

१. ऋग्वेद
२. शतपथ ब्राह्मण
३. तैत्तिरीय संहिता
४. अथर्व वेद
५. बृहदारण्यक उपनिषद्
६. कपिलसंहिता
७. कात्यायनश्रौतसूत्र

लौकिक साहित्य

काव्यग्रन्थ—	प्रणेता—
८. रामायण	वाल्मीकि
९. महाभारत	व्यास
१०. भागवत	व्यास
११. मालविकाग्निमित्र	कालिदास
१२. शाकुन्तल	कालिदास
१३. रघुवंश	कालिदास
१४. मेघदूत	कालिदास
१५. किरातार्जुनीय	भारवि
१६. उत्तररामचरित	भवभूति
१७. बालरामायण	राजशेखर

१८. विक्रमाङ्कदेवचरित	बिल्हण
१९. नैषधीयचरित	श्रीहर्ष
२०. गीतगोविन्द	जयदेव
२१. साहित्यचूडामणि	वीरनारायण
२२. साहित्यसाम्राज्य	वेङ्कटेश्वर
२३. साहित्यरत्नाकर	वेङ्कटेश्वर
२४. साहित्यसुधा	गोविन्द
२५. साहित्यमञ्जूषा	सदाजी
२६. बृहत्कथा	गुणाढ्यकृत प्राकृतकाव्य
२७. वासवदत्ता	सुबन्धु
२८. दशकुमारचरित	दण्डी
२९. अवन्तिसुन्दरीकथा	अज्ञातनाम
३०. हर्षचरित	बाणभट्ट
३१. कादम्बरी	बाणभट्ट
३२. कथासरित्सागर	सोमदेव
३३. हितोपदेश	नारायण पण्डित
३४. प्रबोधचन्द्रोदय	कृष्ण मिश्र
काव्यशास्त्र—	प्रणेता—
३५. नाट्यशास्त्र	भरत मुनि
३६. अभिनव भारती	अभिनवगुप्तकृत नाट्यशास्त्रकी टीका
३७. अग्निपुराण	व्यास
३८. काव्यालङ्कार	भामह
३९. काव्यादर्श	दण्डी
४०. हृदयङ्गमा	काव्यादर्श पर अज्ञातनामा व्यक्तिकी टीका
४१. काव्यादर्शकी टीका	वाचस्पति मिश्र
४२. काव्यालङ्कारसूत्र	वामन

४३.	काव्यालङ्कार	रुद्रट
४४.	काव्यालङ्कारकी टीका	नमिसाधु
४५.	काव्यालङ्कारसारसंग्रह	उद्भट
४६.	काव्यमीमांसा	राजशेखर
४७.	ध्वन्यालोक	आनन्दवर्धन
४८.	लोचन	अभिनवगुप्तकृत ध्वन्यालोककी टीका
४९.	वक्रोक्तिजीवित	कुन्तक
५०.	सरस्वतीकण्ठाभरण	भोजराज
५१.	शृङ्गारप्रकाश	भोजराज
५२.	व्यक्तिविवेक	महिमभट्ट
५३.	दशरूपक	धनञ्जय
५४.	काव्यप्रकाश	मम्मट
५५.	प्रदीप	गोविन्द ठक्कुरकी टीका
५६.	नारसिंहमनीषा	नरसिंह ठक्कुरकी टीका
५७.	साहित्यमीमांसा	रुय्यक
५८.	अलङ्कारसर्वस्व	रुय्यक
५९.	समुद्रबन्ध	अलङ्कारसर्वस्वपर टीका
६०.	साहित्यदर्पण	विश्वनाथ कविराज
६१.	साहित्यदर्पणकी भूमिका	पी.वी. काणे
६२.	औचित्यविचारचर्चा	क्षेमेन्द्र
६३.	कविकण्ठाभरण	क्षेमेन्द्र
६४.	साहित्यचिन्तामणि	वेमभूपाल
६५.	साहित्यसूक्ष्मसरणि	श्रीनिवास दीक्षित
६६.	साहित्यसञ्जीवनी	श्रीनिवास दीक्षित
६७.	चमत्कारचन्द्रिका	विश्वेश्वर
६८.	चित्रमीमांसा	अप्पय दीक्षित
६९.	रसगङ्गाधर	पण्डितराज जगन्नाथ

कोष ग्रन्थ—

७०. अमरकोष

७१. मेदिनीकोष

व्याकरणग्रन्थ—

७२. अष्टाध्यायी

७३. पाणिनीय शिक्षा

७४. वाक्यपदीय

दर्शनग्रन्थ—

७५. शाङ्कर भाष्य

७६. योगसूत्र

७७. व्यासभाष्य

७८. न्यायमुक्तावली

७९. शिवसूत्रविमर्शिनी

८०. लङ्कावतार

८१. सर्वसिद्धान्तसङ्ग्रह

विविध विषय—

८२. कामसूत्र

८३. तत्त्वप्रकाश

८४. भावप्रकाश

८५. राजतरङ्गिणी

८६. नीतिशतक

८७. कामन्दकीय नीतिसार

८८. छन्दोविचिति

८९. कलापरिच्छेद

अंग्रेजी खंड

1. Aesthetic—
(Benedetto Croce; translated by Douglus Ainslie)

2. Philo sophy of Benedetto Croce—
(Weldon bare)
3· Historical Summery: Aesthetic—
(Douglus Ainslie)
4. A History of Aestuetics—
(Bernard Bosanquet)
5. The Making of Literature—
(Scott James)
6. Judgment in Literature—.
(Worsfold)
7. History of Classical Sanskrit Literature—
(M. Krishnamachariar)
8. History of Sanskrit Poetics—
(S. K. De)
9. Sanskrit Literature—
(Macdonold)
10. Studies in Vatsyayan Kamsutra—
(Haran Chandra Cakladar)
11. Indian Aesthetics—
(An article from The First Oriental Conference Poona Vol. II by M. Hiriyanna)
12. Indian Antiquairy XXX III
13. Journal of Royal Asiatic Socioty 1913
14. Sublime And Beautiful.
15. Eastern Religion and Western Thought—
(S. Radhakrishnan)
16. What Happend in History—
(V. Gorden Childe, D. Litt., D. Sc. F.S.A., F.B A)

हिन्दी खंड

साहित्य ग्रन्थ—	प्रणेता—
१. रामचरितमानस	महात्मा तुलसीदास
२. कवितावली	महात्मा तुलसीदास
३. सूरसागर	महात्मा सूरदास
४. घनानन्दकवित्त	सुजान-प्रेमीघनानन्द
५. साकेत	श्री मैथिलीशरण गुप्त
६. कामायनी	श्री जयशङ्करप्रसाद

साहित्यशास्त्र सम्बन्धी ग्रन्थ—	प्रणेता—
७. काव्यमें अभिव्यञ्जनावाद	लक्ष्मी नारायण सुधांशु
८. कविप्रिया	केशवदास
९. भाषाभूषण	महाराज जसवन्त सिंह
१०. अलङ्कारमञ्जूषा	लाला भगवानदीन
११. भारतीभूषण	अर्जुनदास केडिया
१२. साहित्यालोचन	बा. श्यामसुन्दरदास
१३. वाङ्मयविमर्श	पं० विश्वनाथप्रसाद मिश्र
१४. सिद्धान्त और अध्ययन, प्रथम भाग	बा० गुलाबराय
१५. काव्यकला तथा अन्य निबन्ध	श्री जयशङ्करप्रसाद
१६. चिन्तामणि, प्रथम भाग	पं० रामचन्द्र शुक्ल
१७. चिन्तामणि, द्वितीय भाग	पं० रामचन्द्र शुक्ल
१८. रसमीमांसा	पं० रामचन्द्र शुक्ल
१९. सहित्यशास्त्र, द्वितीय खंड	पं० बलदेव उपाध्याय

भूमिका ग्रन्थ—	प्रणेता—
२०. काव्यादर्शकी भूमिका	बा. व्रजरत्नदास
२१. काव्य, कला तथा अन्य निबन्धकी भूमिका	पं० नन्ददुलारे वाजपेयी
२२. "साहित्यकी वर्तमान धारा"की भूमिका	पं० नन्ददुलारे वाजपेयी
२३. "आधुनिक कवि" प्रथम भाग की भूमिका	श्रीमती महादेवी वर्मा
इतिहास ग्रन्थ	**प्रणेता—**
२४. हिन्दी साहित्यका इतिहास	पं० रामचन्द्र शुक्ल
२५. संस्कृत साहित्य का इतिहास, प्रथम भाग	सेठ कन्हैयालाल पोद्दार
२६. संस्कृत साहित्य का इतिहास, द्वितीय भाग	सेठ कन्हैयालाल पोद्दार
२७. संस्कृत साहित्य का इतिहास	पं० बलदेव उपाध्याय
व्याकरण ग्रंथ—	**प्रणेता—**
२८. तुलनात्मक भाषाशास्त्र	डा० मङ्गलदेव शास्त्री
दर्शन ग्रन्थ	
२९. बौद्ध दर्शन	पं० बलदेव उपाध्याय
३०. भारतीय दर्शन	पं० बलदेव उपाध्याय
अनूदित ग्रन्थ—	**अनुवादक—**
३१. गीतारहस्य	श्री माधवराव सप्रे
३२. मेघदूत	पं० केशवप्रसाद मिश्र

अंग्रेजीके विशिष्टार्थक शब्दोंका हिन्दी रूपान्तर

अंग्रेजी	हिन्दी
Abstraction	सूक्ष्मता (भावात्मकता)
Aesthetic	सौन्दर्याश्रयी
Aesthetic sense	सौन्दर्यबोध
Aim	उद्देश्य
Animality	पशुत्व
Antithesis	प्रतिवाद
Association of sensation	संवेदनका साहचर्य या सहभाव
Characterisation	चरित्राङ्कन
Cognition	ज्ञान
Conation	भाव (इच्छा)
Concept	प्रमेय
Concrete	सुसम्पूर्ण, सत्तात्मक, ठोस
Content	वस्तु
Dialectical process	द्वन्द्वात्मक प्रक्रिया
Distinct concept	स्पष्ट प्रमेय
Elaboration	विजृम्भण
Epicurism	आधिभौतिकवाद
Expression	अभिव्यञ्जना
Expressiveness	अभिव्यञ्जकत्व
Extensive	विस्तृत
Form	रूप
Formal	रूपवान्, रूपात्मक

Formal beauty	रूपात्मक सौन्दर्य
Formation	रूपाधान
Hedonistic pleasure	आनुषङ्गिक आनन्द (स्वार्थमय सुख)
Idea	विचार
Idealisation	आदर्शीकरण
Image formation	मूर्त्तिविधान
Imitation	अनुकरण, अनुकृति
Impression	प्रभाव
Indivisualist	व्यक्तिवादी
Inseperable	अयुतसिद्ध
Intellectual activity	बौद्धिक प्रक्रिया
Intellectualist	विचारवादी
Interest	प्रयोजन
Intution	स्वयम्प्रकाश्य ज्ञान
Logic	तर्कशास्त्र
Matter	द्रव्य
Mechanised	यान्त्रिकता, यन्त्ररूपता
Mind	मन
Moral satisfaction	नैतिक सन्तोष
Naturality	प्रकृतत्व
Onamotapolia	ध्वन्यार्थव्यञ्जकत्व, नादसौन्दर्य
Passivity	निष्क्रियता
Personification	सजीवारोपण, मूर्त्तिविधान
Philosophy of mind	मानसदर्शन
Qualitative difference	गुणभेद

Reflective	विम्बग्राहयित्री
Renaissance	जागर्त्तिकाल
Scepticism	संशयवाद
Sensation	संवेदन
Sensualist	संवेदनवादी (इन्द्रियवादी)
Sensuous gratification	ऐन्द्रिय सुख
Spirit	चेतन, मन
Stoicism	सुख-दुःख-निरपेक्षवाद
Syllogism	आनुमानिक शैली
Symbolism	प्रतीकवाद
Synthesis	सम्-वाद
Tendency	क्रिया (प्रवृत्ति)
Thesis	वाद
Transferred epithet	विशेषण-विपर्यय
Universalist	सामान्यवादी

नामानुक्रमणिका

[ग्रन्थ एवं ग्रन्थकार]

[क्रोचे, 'एस्थेटिक' कुन्तक एवं 'वक्रोक्तिजीवित'के अत्यधिक प्रयोग होनेके कारण उनका निर्देश नहीं किया गया है। 'आ'का अर्थ है कि शब्द आगामी पृष्ठोंमें भी व्यवहृत है और अक्षर 'टि' टिप्पणीका प्रतीक है।]

शुद्धि-पत्र

अशुद्ध शब्द	शुद्ध रूप	पृ०	पङ्क्ति
उत्पन्न	उपपन्न	१२	२
कविमें	भावकमें भी	१७	९
साहित्यचूणामणि	साहित्य चूडामणि	१८	४
आदि कवि	आदि-कवि	२४	३
अन्तर	आन्तर	२७	१७
अशोककी	"अशोक"की	३०	१
प्रसादत्वका	"प्रसादत्व"का	३०	१
प्रतीतिक विषयक	प्रतीति-विषयक	२६	४
भावक बिचार	भावकी या विचार	३८	३
Surliest	Earliest	४७	१ (टि)
विभावाभाव	विभावानुभाव	४८	६
मुक्तिबाद	भुक्तिवाद	,,	८
परिपोषस्तल्लोण	परिपोषस्तल्लक्षणो	,,	१२ (टि)
वी. पी, काणे	पी. वी. काणे	५०	६ (टि)
भावतभाहुस्तमन्ये	भावतमाहुस्तमन्ये	६२	५
पृष्ठ सँख्या ११	पृष्ठ संख्या १५	६४	१ (टि)
ध्वनिकारकने	ध्वनिकारने	६७	१५
[illegible]चकत्व	[illegible]	६९	[illegible]

अमिहित	अभिहित	८७	१८
साङ्कटित्त	सङ्कटित	९४	६
नीतिनिबन्धविधान	नातिनिबन्धविधान	९४	९
कोइ	कोई	६५	६
बाच्य	बाच्य	६६	१२
न्रिग्ध	स्निग्ध	,,	२१
प्ररस्पर	परस्पर	९७	२१
परि हत	परिहृत	९७	१४
कथामूर्तेरामममूलोन्मीलितश्रियः	कथामूर्तेरामूलोन्मीलितश्रियः	९७	५ (टि.)
विशिष्टामिधा	विशिष्टाभिधा	९९	२,१८
बालरूचि	बालरुचि	९९	६
पयवसन्न	पर्यवसन्न	६९	१६
वीभत्स	बीभत्स	९९	२३
चित्तविस्ताररूपी	चित्तविस्फाररूपो	१००	३
गोरा	गौरा	१००	१४
भदसे	भेदसे	१००	१५
अनुययी	अनुयायी	१०२	१३
कुवात	कुर्वीत	१०२	४ (टि.)
होती	होती है	१०४	९
उपव्रंहण	उपबृंहण	१०६	८
ककशता	कर्कशता	१०८	९
	२.	११४	२
Farmel	Formal	११४	४
Bosanpuet	Bosanquet	११४	६
स्ट्रीसिज्म	स्टॉयसिज्म	११६	३
फिलाडेल्यस	फिलाडेल्मस	११६	१४
Cieers	Cicero	११६	१(टि)८(टि)